वेदविज्ञानविमर्श

लेखक

प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

अध्यक्ष, पण्डित मधुसूदन ओझा वेदविज्ञानपीठ,

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

सम्पादक

डॉ. रेणुका राठौड़

निदेशक राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर

प्रकाशक

राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर

जे - १५ द्वितीय तल, झालाना संस्थानिक क्षेत्र, झालाना डूंगरी, जयपुर

दूरभाष : ०१४१-२७०९०२०

वेदविज्ञानविमर्श

प्रधानसम्पादक : शैलेन्द्र अगवाल IAS

सम्पादक : डॉ. रेणुका राठौड़

लेखक : प्रोफेसर दयानन्द भार्गव

सर्वाधिकार : निदेशक राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर

संस्करण : २०१५

मूल्य : रु. २८०/- (रु. दो सौ अस्सी)

लेजर टाइपसैटिंग : **श्री नरेन्द्र सिँह सौलंकी**

मुद्रक :

प्रकाशक

राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर

जे - १५ द्वितीय तल, झालाना संस्थानिक क्षेत्र, झालाना डूंगरी, जयपुर (राज.)

दूरभाष : ०१४१-२७०९०२०

E-mail : rajasthansanskritacademy@gmail.com

विषय–सूची

विषय प्रवेश

१.	Concept Paper on the Vedas	1
२.	वेद एक सामान्य परिचय	6
३.	वेदों में भक्ति	18

वेद विज्ञान

४.	An Overview of the Approach of the Brāhmaṇas to the Vedas	22
५.	यज्ञ विज्ञान	56
६.	वैदिक–विज्ञान	67
७.	ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में वर्णित सृष्टि विद्या	78
८.	आवरणवाद : भूमिका	89
९.	अम्भोवादः	97
१०.	यज्ञ संस्कृति	100
११.	वेद–विज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान	106
१२.	वैध यज्ञों की प्रासङ्गिकता	123
१३.	मन्त्र–विज्ञान	130
१४.	प्रस्थानत्रयी एवं प्रस्थानपञ्चक	145
१५.	उपनिषदों की वेदमूलकता	154

१६. वैदिक प्राण तत्त्व 163
१७. ऋषि –तत्व 171
१८. पितृसमीक्षाया : भूमिका 177
१९. छन्द और तन्त्र 180

समीक्षा

२०. वेदों में अथर्ववेद का स्थान 183
२१. हमारा पर्यावरण 189
२२. यज्ञ विज्ञान और जैन जीवन दृष्टि 200

स्मृति

२३. श्रीमद् भगवद्गीता की अभिनवगुप्तकृत गीतार्थसङ्ग्रहटीका का वैशिष्ट्य 207
२४. स्मृति का समाज–दर्शन 219
२५. स्मृतियों की आत्मा अमर है 230

❑❑❑

सम्पादकीय

वेदविज्ञान के उद्भट व्याख्याता के रूप में आचार्य दयानन्द भार्गव का पूरे देश में सम्मान है। अपरा काशी, जयपुर में पण्डित मधुसूदन ओझा ने वेद-विज्ञान की जिस परम्परा का बीजारोपरण किया, उसे पण्डित मोतीलाल शास्त्री एवं पण्डित गिरधर शर्मा चतुर्वेदी जैसे उनके शिष्यों ने पुष्पित-पल्लवित किया और वर्तमान में आचार्य दयानन्द भार्गव ने उसे अपनी सरल, सहज एवं गहन विश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि से वर्तमान पीढ़ी के समक्ष पूरी तरह खोलकर रख दिया है। प्रस्तुत पुस्तक उनके ऐसे ही व्याख्यानों का संकलन है जो उन्होंने वेद-विज्ञान को उद्घाटित करने के लिए स्थान-स्थान पर दिये हैं।

आचार्य भार्गव में पण्डित मधुसूदन ओझा की विश्लेषणात्मक दृष्टि, श्री अरविन्द की अध्यात्मपरक परामनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि तथा आधुनिक विज्ञान की वस्तुनिष्ठ दृष्टि का अद्भुत समन्वय है, जिसमें वेदविज्ञान की आधिदैविक, आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक पद्धतियों का समाहार हो जाता है। वैदिक भाव को हृदयंगम करने के लिए जिस पूर्णता की आवश्यकता है वह इन तीनों दृष्टियों में निहित एकत्व को समझने पर ही ज्ञात हो सकती है। वेद किसी भी काल एवं अवधि के लिए नहीं हैं अपितु शाश्वत ज्ञान की अभिव्यक्ति हैं इसलिए प्रत्येक काल के लिए सदैव प्रासंगिक एवं अपरिहार्य हैं।

प्रस्तुत संकलन में आचार्य भार्गव ने वेद-विज्ञान के शास्त्रीय पक्ष को स्पष्ट करते हुए अनेक निबन्ध लिखे हैं जिसमें ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में वर्णित सृष्टि विद्या के दशवाद की समग्र चर्चा के साथ-साथ कुछ वादों पर पृथक् लेख भी हैं, साथ ही वैदिक प्राण-तत्व, त्रयी विद्या, देवों के अनेकत्व, यज्ञ-विज्ञान, ऋषि-तत्त्व, छन्द और तन्त्र जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पक्षों को जिस सरलता एवं रोचकता के साथ स्पष्ट किया गया है वह किसी भी पाठक को सहज ही वेद-

विज्ञान का अनुरागी बना सकते हैं। उपर्युक्त सभी पक्षों की पुष्टि में वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थों एवं उपनिषदों से पर्याप्त प्रमाण भी दिये गये हैं जिससे इनकी विश्वसनीयता और भी अधिक पुष्ट हो जाती है।

शास्त्रीय कसौटी इस पुस्तक की एक विशेषता है तो आधुनिक दृष्टिकोण इसका दूसरा सबल पक्ष है। एक भी विषय न तो प्रमाण रहित है और न ही अप्रासंगिक। सामान्यतः वेद की विज्ञान के साथ तुलना करते समय कई अति उत्साही विद्वान् आधुनिक भौतिक विज्ञान के साथ उसका साम्य स्थापित करने में ही अटक कर रह जाते हैं और उपहास का पात्र बन जाते हैं क्योंकि जो वर्तमान विज्ञान में ज्ञात एवं सिद्ध हो चुका है उसका साम्य वेद में ढ़ूंढने का कोई औचित्य नहीं है। किन्तु आचार्य भार्गव भूत विज्ञान एवं देव विज्ञान के बीच न केवल मौलिक भेद को स्पष्ट करते हैं अपितु इनके विषयक्षेत्र एवं आधारभूत भिन्नता को भी रेखांकित करते हैं। यहाँ भेद के साथ आधुनिक विज्ञान की विश्लेषणपरक विचारशीलता तथा वेद-विज्ञान की समग्रतापरक अन्तर्दृष्टि के बीच समन्वय भी स्थापित किया गया है, यह चिन्तन आचार्य भार्गव का एक महत्त्वपूर्ण मौलिक योगदान है क्योंकि भारतीय दृष्टि पूर्णता की उपासक है तथा एकत्व, अखण्डता एवं समग्रता इसका अन्तिम लक्ष्य है, जो कि इस पुस्तक का प्राण-तत्त्व है।

वेद-विज्ञान की ब्राह्मण-ग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतियों, जैनादि विविध दार्शनिक परम्पराओं, चित्रकलादि विविध कलाओं तथा आयुर्विज्ञान की प्रयोगात्मकता के साथ गहरी एकात्मता इस संकलन की एक और विशेषता है। इस स्थापना का सामर्थ्य आचार्य भार्गव जैसे बहुश्रुत मौलिक विचारक द्वारा ही सम्भव है। इस ग्रन्थ के द्वारा जिज्ञासु पाठकों को संस्कृत वाङ्मय परम्परा के बीजाङ्कुर से लेकर विस्तीर्ण वटवृक्ष तक से एक साथ परिचित होने का सुअवसर प्राप्त हागा, ऐसी हमारी अपेक्षा है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में संकलित लेखों में आचार्य भार्गव के दीर्घकालिक वैदिक अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान का परिणाम प्रतिबिम्बित हो रहा है। इन लेखों में प्रस्तुत विचार वे पूरे देश में आयोजित विचारगोष्ठियों में प्रस्तुत करते रहे हैं और इसके लिए उनका सर्वत्र हार्दिक स्वागत भी हुआ है। मुझे पूरी आशा है कि इन लेखों के पाठक भी न केवल उनके विचारों का स्वागत करेंगे अपितु उनसे लाभान्वित भी होंगे।

रेणुका राठौड़

Concept Paper on the Vedas

[इस लेख में वेदों का सामान्य परिचय दिया गया है। आशा की जाती है कि इस लेख से पाठकों की वेदों के प्रति रुचि जागेगी—सम्पादक]

The four Vedas are:

1. The Ṛgveda, divided into ten books (Maṇḍala) having 1028 hymns (including 11 supplementary ones) and consisting of 10,552 (including 80 supplementary) stanzas.
2. The Yajurveda (Vàjasaneyī Saṃhitā, Mādhyandina text) divided into 40 chapters, having 1,975 stanzas and prose-units.
3. The Sāmaveda, consisting of 1,875 stanzas- divided into two main sections (arcikā).
4. The Atharva Veda, divided into 20 books (Kāṇḍa) having 730 hymns in 5,987 stanzas and prose-units.

Of these four Vedas, verses of the Ṛgveda are recited, whereas the Yajurveda contains prose portion also. The Sāmaveda is sung. The Atharvaveda is also sung. All these four Vedas have a special way of pronunciation that has to be mastered just like the classical music. The meters in which the Vedas are composed are highly developed and produce a rhythm that speaks of their poetic eloquence.

Though most of the portions of Vedas consist of prayers but they contain the roots of all systems of Indian philosophy, of the various social ideals, of economic and political concepts and

of art and literature; in short, the culture of the people of India. Louis Renou says that *the Vedas show remarkable vigor and originality which post-Vedic classical India never attained* (**Vedic India**, 1957, Page 8).

The Vedas are to be studied first as containing the fundamentals of Indian culture and secondly as piece of literature. The Vedic poets claim themselves as singer, maker of words, seer and wise. They are worshipers of Goddess of wisdom that is endowed with spiritual knowledge. Here is a description of a Vedic poet –

Where the sages formed the speech with the mind
Straining it, as they strain flour with the sieve,
Therein have friends discovered bonds of friendship
Whose holy beauty lies hidden in that speech

(Rv. 10.71.2).

The Vedic poet feels that the Vedic verses were revealed to them through love. Truth and fire of austerity is supposed to brighten their intellect **(Av 7.61.1).**

What is remarkable is the cordial relationship of the Vedic Ṛṣis. They show absolute agreement regarding the values and ideals that are dear to them. It is also worth mentioning that there are many women among the Vedic seers. Ghoṣā for example says that *'she has adorned her hymn as people adorn a bride for the bridegroom'* **(Rv 10.39.14)**. Vedic Ṛṣis are highly respected for their commitment to truth.

The approach of the Vedas is surprisingly global. They speak of all men without making any distinction of caste, creed or color: *Listen all ye sons of immortality* **(Rv 10.13.1).**

Besides truth the Vedas speak of Ṛta that means Cosmic Order that is responsible for aesthetic form and beauty. This Cosmic Order is held in high esteem and is the earlier form of

later Dharma. The Vedas speak of many more moral virtues like faith and dedication. One Vedic women sage Godhā said that we follow the commandments of the Vedas. Goodness is good existence- Svasti. It is not bad to acquire wealth but it should be acquired only by right means **(Rv 1.189.1).**

The Vṛtra is represented by evil. He is symbolized as a serpent. Indra, the Vedic hero, is asked to kill this serpent **(Rv 1.80.3).** The Earth chose Indra and not Vṛtra **(Av 12.1.37).** Varuṇa and Mitra, the Vedic deities, are protectors of the Cosmic Order **(Rv 8.25.8).** The Vedas conceive of a strong and friendly society:.

Strong One! Make me strong,

May all beings look on me with the eye of friend,

May I look on all beings with the eye of friend,

May we look on one another with the eye of friend

(Yv 36.18).

This friendship is a way towards a prosperous, knowledgeable, strong and unsurpassable society where each individual should be mentally efficient and physically healthy.

Naturally, the way to such a society is through education and self-discipline that is the central theme of a student's life. The next step is that of householder's life where each member of family loves one another as the cow loves her calf. There should be union of hearts and minds and freedom from hate. Our aim should be the same. A householder should consider hospitality to be his pious duty. As the Vedic society was agriculture-oriented, the cattle wealth was highly respected. The basis of the society's excellence is unity:

May we unite in our minds, unite in our purposes,

And not fight against the heavenly spirit within us.

Let not the battle-cry rise amidst many slain,

Nor the arrows of the War-God fall with the break of day

(Av 7.52).

What is important is this that the Vedas speak not only of material prosperity but of spiritual excellence also. Atharvaveda (7.105) says: *Step beyond what is human; take up the divine Word.* Then Yajurveda (20.25) desires that the spiritual and ruling powers should move together in unity. The king was asked to abide by the rules of Dharma. Yajurveda (18.48) has equal attitude towards all the strata of the society:

Give luster to our Brāhmaṇas,

Give luster to our kingly men,

Give luster to our Vaiśyas and Śūdras…

The different Vedic deities represent different aspects of energy but basically the energy is one:

The One Being sages call by many names

As they speak of Indra, Yama, Mātriśvan

(Rv 1.164.46).

In Indian tradition there are many names of God. Ṛgveda (10.63.2) says:

All your names, Devas! Are worthy of our homage,

Worthy of our praise and worthy of our worship.

Here is a representative prayer of a Vedic devotee:

Indra, pure, come thou in our midst,

Come, pure, with thy pure aids. Pure One,

Bring affluence for us and, pure

And adorable, be thou pleased…

Pure, thou slayest powers of darkness… **(Rv 8.95.8-9)**

The later cult of devotion is reflected in such Vedic prayers:

Thou, bounteous One, art our Father,

And our Mother, Lord, thou hast been **(Rv 8.98.11)**

The Vedic Ṛṣi speaks of the heroism of Indra very vigorously but at the same time speaks so tenderly and sweetly about the youthful dawn or Uṣā. Uṣā inspires by her beauty that is ever fresh. We have other Vedic Gods like Soma that represents the flow of blissfulness and Sarasvatī that represents the flow of wisdom. When Agni is personified he becomes the priest, the deity and source of all terrestrial and celestial well being and affluence.

The Vedic poet uses symbols so profusely that even the simple words like cow and horse represent not only the animals, but centripetal and centrifugal movements which again represent the life of introversion and extroversion. The language of the Vedas *'as a whole is a powerful and remarkable instrument, terse, knotted, virile, packed, and in its turns careful rather to follow the natural flight of the thought in the mind than to achieve the smooth and careful constructions and the clear transitions of a logical and rhetorical syntax'* **(Sri Aurobindo, On the Veda 1956 page 420).**

❐❐❐

वेद–एक सामान्य परिचय

[सामान्य पाठकों को तथा विशेषकर रचनाधर्मी कलाकारों को यह लेख वेद के प्रति आकृष्ट करेगा— सम्पादक]

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा विश्व–धरोहर के रूप में स्वीकृत ऋग्वेद मानव–जाति का प्रथम ग्रन्थ है। शेष वेदों में यजुर्वेद और सामवेद के भी अधिकांश मन्त्र ऋग्वेद से ही लिए गए हैं। अथर्ववेद लोक–संस्कृति का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। परम्परा कहती है कि न केवल भारतीय संस्कृति प्रत्युत पूरी मानव संस्कृति के मूल तत्त्वों का उद्‌भव वेदों में खोजा जा सकता है– **सर्वं वेदात् प्रसिध्यति** । स्वयं वेद किसी देश–विशेष या जाति–विशेष की चर्चा न करके विश्व संस्कृति की चर्चा करते हैं– **सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा।**

वेदों में जिनकी दृष्ट ऋचाएं संगृहीत हैं वे ऋषि हैं जिन्होंने मन्त्रों का साक्षात्कार किया, वे कवि हैं क्रान्तद्रष्टा हैं जिन्होंने सत्य को ही नहीं उस ऋत को भी देखा जो विश्व व्यवस्था का आधार है और जो सत्य के सहित सृष्टि के प्रारम्भ में तप से उद्‌भूत हुआ था– **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात तपसोऽध्यजायत।** यही वह ऋत है जो सबको धारण करने के कारण धर्म कहलाया। इस धर्म के घटक सत्य, बृहद् ऋत, उग्र दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ पृथ्वी को धारण करते हैं– **सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।** इन विश्वजनीन मूल्यों के सम्बन्ध में वेद के समस्त ऋषि एकमत हैं और सबको एकमत होकर चलने का सन्देश देते हैं– **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।** इस उदात्त भूमिका पर खड़े होने के कारण वेदों को भारतीय जनमानस ने इतना अधिक महत्त्व

दिया कि जब मुद्रण की सुविधा नहीं थी तब भी पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परम्परा के द्वारा, बिना एक अक्षर का पाठ-भेद किए लगभग बीस हजार मन्त्रों के विपुलकाय साहित्य को अक्षरशः सुरक्षित रखा और आज भी मुद्रण कला के आविष्कार के बावजूद वर्षों का कठोर श्रम करके उस साहित्य को कण्ठस्थ करने की परम्परा इसलिए चलती है कि लिखित रूप में भले ही शब्द सुरक्षित रह जायें किन्तु शब्दों के शुद्ध उच्चारण की सुरक्षा करना तो मौखिक रूप से ही सम्भव है और इस शुद्ध उच्चारण का महत्त्व इसलिए है कि वेद में एक ही शब्द के उच्चारण के भेद के कारण अर्थों में भेद हो जाता है और इष्ट की जगह अनिष्ट हो सकता है।

वेद मनुष्य-जाति की बाल्यावस्था के उद्‌गार अवश्य हैं किन्तु वे मनुष्य-जाति के अपरिपक्व मस्तिष्क के उद्‌गार नहीं हैं। उनमें बाल्यावस्था की मुग्धता तो है किन्तु साथ ही युवावस्था की चतुर्मुख विकास की उद्‌दाम कामना भी है। उनमें जरावस्था की निराशा तो बिल्कुल नहीं है और न युवावस्था की उच्छृंखलता है। उनमें बाल्यावस्था की मुग्धता, यौवन का उत्साह और वृद्धावस्था की परिपक्वता एक साथ उपलब्ध होती है।

जहां तक वेदों की प्राचीनता का प्रश्न है यह कम से कम पांच हजार वर्ष पूर्व की रचनाएं हैं। सन्देह होता है कि क्या इतने प्राचीन समय में मनुष्य जाति कोई ऐसी मूल्यवान् रचना कर सकती थी जो आज भी प्रासंगिक हो सके। इस सम्बन्ध में प्रथम ध्यातव्य तो यह है कि वेदों की भाषा की शक्ति और उनके छन्दों की सुघड़ सुन्दरता आज के किसी भी उत्तम से उत्तम साहित्य से टक्कर ले सकती है बल्कि लुई रेने का तो यह मन्तव्य है कि वैसी शक्ति और मौलिकता परवर्ती साहित्य में रही ही नहीं। श्री अरविन्द ने इस शैली को मान्त्रिक काव्य कहा है और इसे भविष्य की कविता का आदर्श माना है। कला पक्ष को छोड़ दें तो भाव पक्ष की दृष्टि से भी साहित्य और अध्यात्म का उद्भुत संगम वेदों में हमें प्राप्त होता है। नववधू जब अपने पितृगृह से पतिगृह की ओर प्रस्थान करती है तो उसकी यात्रा की साज-सज्जा देखी जाए-

तकिया विचारों का, काजल थी दृष्टि बनी।
मंजूषा गगन-पृथ्वी, सूर्या पति निकट चली।।
स्तोत्र अरे पहियों के, छन्द थी कुरीर साज।
अश्विन् थे सूर्या-वर अग्निदेव पुरागामी।।
सोम था वधू- काम ,वर अश्विन् मन ही मन।
पति को सराहती सूर्या दी सविता ने।।
मन ही वधू का रथ, आवरण अम्बर था।
शुक्र दो बैल बने, सूर्या ससुराल चली।।
ऋचा-साम ने जोड़े बैल सम दूरी पर।
श्रोत्र थे चक्र, मार्ग गति-स्थिति-हेतु नभ।।
चलने पर चक विमल व्यान-वायु अक्ष बनी।
सूर्या मनो-रथ चढ़ पति के समीप चली।।

एक ओर तो जीवन का यह उल्लास है जिसे देखकर लगता है कि वैदिक ऋषि अधिक से अधिक सांसारिक क्रिया-कलापों में ही उलझा रहा होगा किन्तु दूसरी ओर सृष्टि के प्रारम्भ की अवस्था की यह अवधारणा भी है जहां ऋषि का रहस्यवाद मुखरित हुआ है-

न था तब असत् न था सद् - भाव, न लोक, व्योम, न व्योमातीत।
कहां ? किसके सुख हेतु ? कौन आवरण ? जल था गहन गम्भीर ?।।
न थी तब मृत्यु, न अमृत-भाव, न दिन का और निशा का चिह्न।
एक निर्वात स्वधा से श्वसित, न था कुछ भी उसके अतिरिक्त।।

वैदिक ऋषि प्रकृति के मांसल स्वरूप की स्तुति करते समय यह नहीं भूलता कि यह प्रकृति जिसकी कृति है और जो अन्तर्यामी रूप में इसका संचालन कर रहा है वह एक ही है, यद्यपि वह भिन्न-भिन्न कार्यों का सम्पादन करते समय भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

अनेकता में एकता का यह स्वर गहन जिज्ञासा में बदल गया –

मैं नहीं जानता, जिज्ञासु हो पूछ रहा कवियों से, विद्वानों से, मैं तो हूं अजान।
है कौन अजन्मा-रूप एक, ऐसा जिसने इन छह लोकों को एकाकी ने धारा है।।

विशेष बात यह है कि वेद विश्व के गहरे से गहरे रहस्य में जाकर भी सामान्य जनजीवन से जुड़ा है। उसमें भौतिक वैभव से लेकर शारीरिक स्वास्थ्य, दैवी-मेधा, रक्षा, अभय, विजय, वर्चस्व, शान्ति, अभ्युदय तथा अत्मिक शक्ति— एक सांसारिक जीवन के लिए आवश्यक सभी पदार्थों के लिए हार्दिक प्रार्थना है किन्तु साथ ही क्षात्र-तेज और ब्रह्म-तेज दोनों के समन्वय की प्रार्थना भी है-

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।

भारतीय संस्कृति का आधार मनुष्य को द्विज बनाना है। द्विज का अर्थ है दूसरा जन्म। यह प्रक्रिया गर्भ में गर्भाधान संस्कार से ही प्रारम्भ हो जाती है **(अथर्ववेद ५.२५ तथा ६.८१)**। बालक के जन्म लेते ही यह प्रक्रिया और भी गहन रूप में चालू हो जाती है। प्रथम संस्कार जातकर्म है, **(ऋ. ५.७८.७)** वेद मनुष्य जीवन को इतनी बारीकी से देखता है कि जब बालक का नामकरण किया जाता है तब भी संस्कार **(यजु. ७.२९)**, जब घर से पहली बार बाहर निकल तब भी संस्कार **(अथर्ववेद ८.२.१४)**, जब पहली बार अन्न खाये तब भी संस्कार **(अथर्ववेद ८.२.१८)**, जब उसके पहली बार बाल उतरे तब भी संस्कार **(अथर्ववेद ६.६८)**, कर्णवेध **(यजु. २५.२१),** उपनयन **(यजु २.३३)** संस्कारों के साथ शिक्षा की समाप्ति पर समावर्त्तन **(ऋ. ३.८.४)**, विवाह, जिसका संक्षिप्त उल्लेख हमने सूर्यासूक्त के प्रसंग में ऊपर किया, सक्रिय जीवन से निवृत्ति**(यजु. २०.२४)**, जीवन के अन्तिम पड़ाव की शान्ति **(ऋ. ९.११३)** और अन्त में शरीर का छोड़ना **(यजु. ५०.१५)**— यह सभी कर्म, भाव की श्रेष्ठता के कारण संस्कार में परिवर्तित हो गये। संसार के

अन्य किसी भी साहित्य में जीवन को इतनी बारीकी से शायद ही देखा गया हो।

यह भी विचारणीय है कि वेद ने एक नैतिक किन्तु कर्मठ जीवन जीने का मार्ग प्रशस्त किया। आज के भ्रष्टाचार के विरुद्ध वेद की नैतिकता **(ऋ. १०.३४.१४)** और निर्धनता के विरुद्ध वेद की कर्मठता **(यजुर्वेद ४०.२)** अत्यन्त प्रासंगिक हैं। समाजवाद का स्वर **(ऋग्वेद १०.११७.६)** इस कथन में अत्यन्त सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुआ है कि जो बिना बांटे भोगता है वह तो वस्तुतः पाप को ही भोगता है–

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।

ज्ञान की देवी सरस्वती पवित्र करने वाली है **(ऋग्वेद १.३.१०)** प्राणीमात्र का कल्याण वेद का आदर्श है **(अथर्ववेद १.३१.४)**। वस्तुतः वेद में निवृत्ति और प्रवृत्ति का अद्भुत संगम है । मनुष्य को निरन्तर उन्नति करनी है **(उद्यानं ते पुरुष नावयानम्- अथर्व. ८.१.६)** ब्राह्मण शान्त है **(ऋग्वेद ७.१०३.८)** किन्तु आपत्काल में शस्त्र भी धारण कर लेता है। **(अथर्व. ५.१८.९)** इन्द्र वेद की शूरवीरता का प्रतिमान है, वेद वीरों का उपासक है **(ऋ. ९.९०.३)** वीरों के बिना राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता। **(अथर्व. १.२९.६)** राष्ट्र का संचालन सभा और समितियों के द्वारा ही सम्भव है। ये दोनों प्रजापति की पुत्री हैं–

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ। (अ. ७.१२)

समाज में न कोई छोटा है न बड़ा सब भाई हैं–

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
(ऋ. ५.६०.५)

किन्तु जीवन का अन्तिम लक्ष्य अमृतत्व की प्राप्ति है जिसे ईश्वर ज्ञान के बिना सम्पादित नहीं किया जा सकता –

वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।

तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

(यजु. ३१.१८)

यह उदात्त और शुभ्र वैदिक पृष्ठभूमि यदि किसी कलाकार को अद्भुत सर्जन के लिए प्रेरित न करे तो यह आश्चर्य ही होगा। साथ में कुछ वैदिक मन्त्र अर्थ सहित कलाकारों के श्रवण–मनन और निदिध्यासन के लिए संलग्न किये जा रहे हैं–

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।।

हिन्दी अनुवाद– सर्वप्रथम आधान किये जाने वाले, यज्ञ को प्रकाशित करने वाले, ऋतुओं के अनुसार यज्ञ सम्पादित करने वाले (देवताओं का) आह्वान करने वाले तथा धन प्रदान करने वालों में सर्वश्रेष्ठ अग्निदेवता की मैं स्तुति करता हूँ।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये।।

हिन्दी अनुवाद– वह (तुम) हे अग्नि, हमारे लिये आसानी से पहुँच के योग्य होवो, जिस प्रकार पिता(अपने) पुत्र के लिये होता है। (हे अग्नि) हमारे कल्याण के लिए (तुम) हमारे साथ होवो।

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्।।

हिन्दी अनुवाद–अन्धकारमय अन्तरिक्ष से (होकर) लौटते हुए, देवताओं तथा मनुष्यों को (अपने–अपने कार्यों में) प्रवृत्त करते हुए स्वर्णमय रथ पर (चढ़ कर) सविता देव सम्पूर्ण प्राणियों को देखते हुए आ रहे हैं।

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती।।

हिन्दी अनुवाद– हे प्रकाशवती आकाश की पुत्री उषा देवी, दान देने वाले (तुम) प्रचुर अन्नरूप धन तथा पश्वादिरूप धन के साथ हमारे लिये विविध रूप से प्रकाशित होवो।

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा।।

हिन्दी अनुवाद– विष्णु, जिसके विशाल तीन कदमों में सम्पूर्ण प्राणी निवास करते हैं, अपने उस वीरतायुक्त कार्य के कारण स्तुति किया जाता है, जिस प्रकार पर्वत पर रहने वाला तथा अपनी इच्छानुकूल विचरण करने वाला भयानक पशु।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकृपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः।।

हिन्दी अनुवाद–जितने कांपती हुई पृथिवी को स्थिर किया, जिसने (इधर–उधर) उड़ने वाले पर्वतों को (अपने–अपने स्थान पर)स्थापित किया, जिसने अन्तरिक्ष को चौड़ाई में प्रस्तुत किया, जिसने आकाश को (गिरने से) रोका, हे मनुष्यों, वह इन्द्र है।

उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्वक्षीयसा वयसा नार्धमानम्।
घृणीवच्छायामरपा अशीया विवासेयं रुद्रस्य सुम्नम्।।

हिन्दी अनुवाद–शक्तिशाली (रुद्र) मरुतों के साथ मुझ स्तुति करने वाली को अपनी तेजस्वी शक्ति से आनन्दित करे। मैं (रुद्र की) सेवा करूँ (ताकि) पापरहित होकर रुद्र के सुख को उसी प्रकार प्राप्त करुँ जिस प्रकार सूर्य किरणों से संतप्त (व्यक्ति) छाया में (सुख पाता है)

उत स्वया तन्वा सं वदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभि ख्यम्।।

हिन्दी अनुवाद– क्या मैं अपने शरीर से उस (वरुण देवता) के साथ वार्तालाप करूँगा? वरुण के हृदय में मैं कब होऊँगा? क्या मेरी

प्रार्थना को क्रोधरहित (होकर वह)स्वीकार करेगा? सुन्दर मन वाला (होकर) मैं दयालु (वरुण) को कब देखूँगा?

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।

हिन्दी अनुवाद- हिरण्यगर्भ सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ, वह जन्म से ही उत्पन्न प्राणियों का अकेला स्वामी था। उसने पृथिवी, आकाश तथा इन सबको धारण किया। (उसको छोड़कर) किस देवता का हम हवि से पूजन करें?

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

हिन्दी अनुवाद-परमेश्वर पुरुष असंख्य सिर वाला, असंख्य नेत्रों वाला तथा असंख्य पैरों वाला है। वह पृथिवी का चारों तरफ से व्याप्त करके दस अंगुल परिमाण में अधिक स्थित है।

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगम ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।।

हिन्दी अनुवाद-जो मन पुरुष की जाग्रत अवस्था में (नेत्र आदि अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा) अधिक दूर जाता है, (जो) आत्मा का दर्शन करने वाला है, जो (पुरुष की) सुषुप्ति अवस्था में उसी प्रकार लौट आता है (जिस प्रकार जाग्रत अवस्था में दूर जाता है) (जो) दूर जाने वाला है, और जो सब बाह्य इन्द्रियों का एकमात्र प्रकाशक है, वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भुरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा।।

हिन्दी अनुवाद- जिस (पृथिवी) पर चारों तरफ विचरण करने वाले सार्वभौमिक जल दिन-रात प्रमाद रहित होकर पवाहित होते हैं, वह

अनेक धाराओं वाली पृथिवी हमारे लिये दूध चुआवे और तेज से अभिसिंचित करे।

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना।।

हिन्दी अनुवाद- गुहा में अनेक प्रकार से खजाना को धारण करती हुई पृथिवी मुझे धन, मणि तथा स्वर्ण प्रदान करें। धन देने वाली पृथिवी देवी शब्द करती हुई तथा सुन्दर मन वाली होती हुई हमें धन प्रदान करें।

ये शुभ्रा घोरऽवर्पसः सुऽक्षत्रासो रिशादसः।
मरुद्भिरग्नः आ गहि।।

हिन्दी अनुवाद-जो शोभन रूपवाले, प्रचण्ड रूप धारण करने वाले, सुन्दर शासन वाले तथा हिंसकों का भक्षण करने वाले हैं, हे अग्नि, (उन) मरुतों के साथ (यहाँ) आवो।

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः।।

हिन्दी अनुवाद- पर्वत पर निवास करने वाले अहि(मेघ) को (उसने) मारा, त्वष्टा ने इसके लिए गरजने वाले वज्र का निर्माण किया, रम्भाती हुई (बछड़े की ओर तेजी से जाने वाली) गायों की तरह, बहता हुआ जल तेजी से नीच समुद्र की ओर जाने लगा।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुश्च।।

हिन्दी अनुवाद-रश्मियों का आश्चर्यजनक समूह एवं मित्र, वरुण तथा अग्नि का नेत्र (आदित्य मण्डल) ऊपर निकला है। (उसने) आकाश, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष को चारों तरफ से (अपने प्रकाश से) भर दिया है। (वह) सूर्य जंगम तथा स्थावर सभी प्राणियों की आत्मा है।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपश्रवस्तमम्।

ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सदनम्।।

हिन्दी अनुवाद- गणों के मालिक, कवियों में सर्वश्रेष्ठ कीर्तिवाले कवि, स्तुतियों के सर्वश्रेष्ठ स्वामी, तुमको हम बुलाते हैं, हे प्रार्थनाओं के मालिक, हमारे (आह्वान को) सुनते हुये इस यज्ञ गृह में अपनी सहायता के साथ स्थान ग्रहण करो।

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि।

पुराणी देवि युवतिः पुरंधिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे।।

हिन्दी अनुवाद- हे अन्न से अन्नवति एवं धनवति उषा, प्रकृष्ट ज्ञानवाली (तुम) स्तुतिगायक के स्तोत्र को स्वीकार करो। हे सबके द्वारा वरणीय देवि, पुरानी एवं बहुत गुणों वाली युवती (के समान तुम) कर्म को लक्ष्यकर आचरण करती हो।

युवां नरा पश्यमानास आप्यं प्राचा गव्यन्तः पृथुपर्शवो ययुः।

दासा च वृत्रा हतमार्याणि च सुदासमिन्द्रावरुणावसावतम् ।।

हिन्दी अनुवाद-हे नेताओं, तुम दोनों को तथा तुम्हारे बन्धुत्वभाव को देखते हुए विशाल फरसे वाले (हमारे सैनिक) विजय प्राप्त करने को कामना से आगे गये हैं। हे इन्द्र और वरुण, तुम दोनों (हमारे) दास तथा आर्य शत्रुओं को नष्ट करो और अपने संरक्षण से सुदास की रक्षा करो।

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः।

वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः।।

हिन्दी अनुवाद- व्रत का आचरण करने वाले ब्राह्मणों की तरह वर्ष भर (वर्षा के लिए) तपस्या करते हुए की तरह (बिल में) पड़े हुये मेढक पर्जन्य को प्रिय लगने वाला वचन बोल रहे हैं।

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया।

उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे।।

हिन्दी अनुवाद–अब हम लोग स्पष्टवाणी में देवताओं के जन्मों को कहें, जो (देवताओं का समूह) भविष्य में उक्थ्य साम के गाने पर यजमान को देख सके।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।

हिन्दी अनुवाद–पूर्ण पुरुष हजारों सिरवाला, हजारों नेत्रवाला तथा हजारों पैरवाला है। वह पृथिवी को चारों तरफ से व्याप्त करके दस अंगुल (परिणाम में) बचा रहता है।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्।।

हिन्दी अनुवाद–हे प्रजापति, तुमसे भिन्न ये जितने उत्पन्न जीव हैं, वे तुमको चारों तरफ से व्याप्त नहीं कर सकते हैं, जिस कामना से हम तुम्हें हवि प्रदान करते हैं, वह हमारी इच्छा पूरी हो। हम धनों के स्वामी बनें।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।।

हिन्दी अनुवाद–वह विविध रूपों वाली सृष्टि जहाँ से आई है (उसको उसने) या तो धारण किया था, या अगर नहीं (तो किसने धारण किया था?) जो इसका ईश्वर है, वह सर्वोच्च स्वर्ग में है, वही निश्चित रूप से इसे जानता है, यदि वह नहीं जानता (तो कौन जानता है?)

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरु न्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य

वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्।।

हिन्दी अनुवाद- हे ब्रह्मन्, हमारे राष्ट्र में पवित्र ज्ञान सम्पन्न तेजस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हो, पराक्रमी, बाण चलाने में कुशल शत्रु का अत्यन्त भेदन करने वाला, महान् योद्धा क्षत्रिय उत्पन्न हो, बाण चलाने में कुशल शत्रु का अत्यन्त भेदन करने वाला, महान् क्षत्रिय उत्पन्न हो, अधिक दूध देने वाली गाय, भार ढोने में समर्थ शक्तिशालो बैल, शीघ्रगामी अश्व, सर्वगुण सम्पन्न स्त्री, रथ में बैठने वाले तथा (शत्रु को) जीतने वाले (बहादुर उत्पन्न हों), इस यजमान को सभा में जाने योग्य युवक वीर पुत्र उत्पन्न हों, पर्जन्य हमारी इच्छानुकूल वर्षा करें, हमारे पौधे फल से युक्त होकर स्वयं पके, हमें अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति तथा प्राप्त की गयी वस्तु की रक्षा संभव हो।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः।।

हिन्दी अनुवाद-वही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है, वही चन्द्रमा है, वहो तेज है, वही प्रार्थना है (वही) ये जल है, वही प्रजापति है।

❐❐❐

वेदों में भक्ति

[वेद कर्मकाण्ड के ग्रन्थ ही नहीं हैं, उनमें भक्तिरस भी है— सम्पादक]

त्वं हि नो पिता, वसो! त्वं माता।

जब काव्य ब्रह्ममय तथा ब्रह्म काव्यमय हो जाता है तो भक्ति-साहित्य का सृजन होता है। भक्ति-साहित्य में शब्द और ब्रह्म, एकाकार हो जाते हैं। ऐसा ब्रह्ममय शब्द ही तो इस लोक तथा परलोक में कामधेनु बनता है- एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवतीति।'' नाम जप का भी महत्व इसी तथ्य पर निर्भर करता है कि शब्द- ब्रह्म में प्रवीण व्यक्ति ही पर- ब्रह्म का साक्षात् करता है- '' शब्द- ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।'' श्रुति कहती है कि रक्षा का इच्छुक नाम रत्न की भिक्षा मांगता है- '' अवस्युर् नाम भिक्षते।'' वेद में नाम संकीर्तन देखिये-

त्रातारम् इन्द्रम् अवितारम् इन्द्रम्।
हवे हवे सुहवे शूरम् इन्द्रम्।
ह्वामि शक्रं पुरुहूतम् इन्द्रम्।
स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः।

यहां इन्द्र शब्द का अन्त्यानुप्रास अनायास ही राष्ट्रपिता की प्रिय धुन 'रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम।' का स्मरण करा देता है।

यहां यह ध्यान देने की बात है कि परवर्ती भक्तों के राम पतितपावन हैं परन्तु वेद के देव 'श्रान्त के सखा' हैं- ''न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।'' दास मलूका के राम उपासक को अजगरवृत्ति के लिए प्रेरणा देते हैं-

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दासमलूका कह गये, सबके दाता राम।

परन्तु वेद के मित्र भगवान् उपासक को कर्मठ बनाना चाहते हैं **''प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान्।''** वैदिक-कालीन भक्ति कर्म की सहवर्तिनी है, विरोधिनी नहीं। निराशा और विषाद से भरा हुआ भक्त परवर्ती काल में दु:ख को ही वरदान मान बैठा-

सुख के माथे सिल परे, नाम हृदय से जाय।
बलिहारी दु:ख आपनो, पलपल नाम रटाय।।

यही नहीं, भागवत के अनुसार तो भगवान् जिस पर कृपा करना चाहते हैं उसका सर्वस्व अपहरण कर लेते हैं-

यस्यानुग्रहमिच्छामि सर्वं तस्य हराम्यहम्।

वैदिक धर्म तो अभ्युदय और नि:श्रेयस दोनों की सिद्धि में धर्म मानता है, फिर भला भगवान् की भक्ति अनभ्युदय का कारण कैसे बन सकती है? भगवान् वह वृक्ष है जिस पर यश, धन, पशु, शत्रुमर्दन तूर्य, वृष्टि तथा प्रशस्त जलप्रवाह इत्यादि सब सम्पत्तियां पक्षियों के समान रहती हैं-

त्वद्विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वया:। श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिर् ईडयो रीतिर् अपाम्।।

अत: भगवान् भक्तों पर तो सुख की वृष्टि करते हैं परन्तु शङ्कालु नास्तिकों के धन का अपहरण करके उन्हें अवश्य शिक्षा देते हैं-

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर् नैषोऽस्तीत्येनम्। सो अर्य: पुष्टीर्विज इवामिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्र:।।

पापी के लिए 'घोर' होने पर भी प्रभु भक्त के लिए तो आनन्द के अजस्र स्रोत हैं-

यत्रानन्दश्च मोदाश्च मुद: प्रमुद आस्ते। कामस्य यत्राप्ता: कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव।।

और यही उनकी न्यायकारिता है कि वे यज्ञशील पुण्यात्मा के लिए सुखदाता तथा अव्रती पापात्मा के लिए दण्ड-विधाता हैं-

बर्हिष्मते रन्धया शासद् अव्रतान।

यथार्थत: तो वे पापी को दु:ख देकर भी उस पर दया ही करते हैं कि उसे सुपथ पर लगाना चाहते हैं-

यो मृळयाति चिकुषे चिदागो वयं स्याम वरुणे अनागा:।

इसीलिए तो भक्त प्रार्थना के स्वर में पूछता है कि हे पापियों को रुला देने वाले रुद्र भगवन् ! आपका वह सुखद हस्त कहां है ?

क्वास्य ते रुद्र ! मृळयाकुर् हस्त

किन्तु इन प्रार्थनाओं से क्या होगा ? प्रश्न तो यह है कि हम उस सर्वशक्तिमान् के सम्मुख पूर्ण आत्मसमर्पण कब करेंगे ?

का ते अस्त्यरंकृति : सूक्तै: ? कदा नूनं ते मघवन् दाशेम।

है नाथ ! आप विश्व की एकमात्र शरण हो-

यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।

रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभि: पुरुरूप ईयते।

'जेहि बिधि नाथ होई हित मोरा। करहु सो बेगि दास मैं तोरा।।'

यमग्ने मन्यसे रयिं सहसावन्नमर्त्य। तमा नो वाजासातये वि वो मदे यज्ञेषु चित्रमा भरा विवक्षसे।।

''जे असि भगति जानि परिहरहिं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं ।।

ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी।।''

ऋचोऽक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदु:। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्त द्विदुस्त इमे समासते।।

'बिनु बिस्वास भगति नहीं, तेहि बिनु द्रवहिं न राम।

राम कृपा बिनु सपनेहु, जीव न लह विश्राम।।'

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भजस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।

परमात्मन ! तुम हमारे हो, हम तुम्हारे हैं–

त्वमस्माकं तव स्मसि।

फिर भला जल में मीन प्यासी क्यों हैं ?

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् मृळा सुक्षत्र मृळय।

यदि मैं तुम्हारी जगह होता और तुम मेरी जगह होते तो हे विश्वनायक ! मैं तुम्हारी समस्त कामनायें पूर्ण कर देता।

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः।

अहो ऐसो आत्मीयता? ऐसी उपास्य की समकक्षता? और उपासक की तृष्णा अधिक नहीं टिक पाती।

वायु, सिन्धु तथा औषधी–सबमें माधुर्य की खोज है–

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।।

वैदिककाल का भक्त न निराशावादी हो न, आत्महीनता की ग्रन्थि से पीड़ित। वैदिक भक्ति का मुख्य आधार है आचार–**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**। जो अतप्ततनु है– जिसका तन तप से दमका नहीं– वह सिद्धि नहीं पा सकता–

अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते।

❑❑❑

An Overview of the approach of the Vedas
In the light of ब्राह्मण-Texts

"***There was*** *neither non-existence nor existence at the beginning of the universe at that time*[1]", exclaims the creator of universe himself[2]. This statement has been recorded in the oldest book of the world, the ऋग्वेद, the date of which still remains undecided, and yet, there is absolute unanimity amongst scholars of the West and the East that this is the oldest book of the World.

I

THE MYSTERY

There have been attempts to explain as to what this statement means*: "There was neither non-existence nor existence at the beginning of the universe*." This is a statement, which describes the situation before the creation came into being. The statement, on the face of it, does not convey anything sensible, because, logically speaking, if there was no 'non-existence' then there must be 'existence' and if there was 'no existence' then there must have been 'non-existence', according to the law of excluded middle of Logic. Obviously, the statement

---

१ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्- ऋग्वेद १०.१२९.१

२ Though all the hymns of the Vedas are supposed to be of divine origin according to orthodox tradition, yet all the hymns of the Vedas give the names of the seers who 'saw' a particular hymn. In most of the cases these names are of human beings like विश्वामित्र or वसिष्ठ. But some of the hymns mention divine beings as their seer (द्रष्टा). For example, the particular hymn, to which this line belongs, has the Lord of the creation, the highest, (प्रजापति परमेष्ठी*i*), as its seer.

is paradoxical. But when one tries to trace the origin of creation or, in other words, the origin of existence itself, one is likely to meet many more such paradoxical statements.

In the present article we shall describe in as simple a way as possible, how the seers of yore explained such a paradoxical situation with keen insight. The understanding of the mystery of creation is important, not only for its own sake, but also for a proper understanding of 'what we are to do with our lives'. The purpose of an individual's life at micro level is to be understood in the light of the nature of the universe at macro level, of which he is only a small part.

Consciousness: The Origin of Universe

याज्ञवल्क्य, who wrote the oldest commentary on another Veda, *Yajurveda*, known by the name शतपथ ब्राह्मण (i.e. the commentary of the Vedas in one hundred chapters), explained the above sentence in the following manner. "*Consciousness is neither non-existent (like the horn of a hare) nor existent (like the piece of a stone)*,"[3] explains याज्ञवल्क्य. The implied meaning according to his explanation would be that in the beginning there was only consciousness, which unfolded itself into the universe. How and why it happened are some of the interesting questions. We have to see the purpose of human life in the light of the way of functioning of the forces that control the universe, because, it has been ordained that we should act just as the divine forces act. The divine scheme of actions provides a model for human behaviour - यद् देवा अकुर्वंस्तत्करवाणि।

---

3 नैव वा इदमग्रेऽसदासीन्नैव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नैवासीत्तद्ध तन्मन एवास। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति नैव हि सन्मनो नैवासत्– शतपथ १०.५.३.१.२

The Whole and The Part

Why should we be interested in this mystery of creation is a pertinent question. The answer, in short, is that unless we know the nature of the universe, we cannot know what should we do with our lives. After all, we are an inseparable part of the universe, and, a part of the whole can be understood fully only if we know the whole. We are free to think that man is the center of the universe and he does occupy the central place— न हि मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चिद्- but he does not exist in isolation. He has the sky over his head and the earth beneath his feet. Not only this, his whole personality is made of the same elements, which constitute the universe. He, in fact, is the universe at micro level and the universe is the man at macro level; both of them, having been made after the same model, help understanding each other- यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।

Thus, the creator has expressed his desire, not through any of his messenger but through the very functioning of the universe. Certain laws rule the universe. Naturally, man does not make these laws; he only discovers them. This is what science does. That we should follow these laws in our lives, is told by the Vedic religion. The Vedic religion is thus inter-related with science. The part of the ब्राह्मण[s] (the oldest commentaries on the *Vedas)* that states the laws, is known as अर्थवाद and the part that deals with human duties is called *vidhi*. Until *Pandita Mahasudan Ojha* (a scholar of 20th century), appeared on the scene mostly the tradition thought that only the *Vidhi* is relevant for human beings[4]. A proper study of अर्थवाद was, therefore, generally neglected. *Pandita Ojha*, however, opined that it is necessary to know the अर्थवाद for understanding the rationale of the *Vidhi*. His approach, therefore, becomes scientific rather than

---

4 आम्नायस्य क्रियार्थत्वाद् आनर्थक्यमतदर्थानाम्- जैमिनीयसूत्र, १.२.१

ritualistic. Some of the observations under भूतार्थवाद, part of अर्थवाद, impart information that are not known otherwise. Take, for example, the statement that 'man is the conglomeration of all the *devas* or divine powers'— नरो वै देवानां ग्रामः।[५]

II

ESOTERIC STYLE

The seer, whose statements are recorded in the oldest literature of the world couched their experiences in a language which is esoteric– आचक्षते परोक्षेण. The most famous of such statements was made by a seer, विश्वामित्र (literally meaning the friend of all and the friend of universe). This statement, famous by the name गायत्री *mantra*, is prefixed by three words "earth, atmosphere and heaven"[6]. Now these three words, 'earth, atmosphere and heaven' are spoken of in connection with the universe. But we have also our own earth, atmosphere and heaven; our body is our earth[7], our mind is our atmosphere[8] and our intellect[9] is our heaven, we ourselves being beyond all these three— यो बुद्धेः परतस्तु सः।

A parallel is thus drawn between the macro and the micro, the universe and the individual, thus connecting the physical (अधिभूत) with the spiritual (अध्यात्म). The implication is that we cannot understand the physical unless we understand the spiritual and vice-versa. This parallelism is to be kept in view while trying to understand the Vedic approach. The अधिदैव i.e. the psychic energy is the connecting link between the two—the

---

5 ताण्ड्यब्राह्मण ६.९.२

6 भूर्भुवस्स्वरिति त्रयी विद्या–जैमिनीयोपनिषद् २.३.३.७

7 यच्छरीरं सा पृथ्वी–ऐतरेयारण्यक, २.३.३

8 मनोऽन्तरिक्षलोकः– शतपथ, १४.४.३.११

9 ब्रह्मा वै देवः सविता–तैत्तिरीयसंहिता, ५.५.४.४

अधिभूत and the अध्यात्म. In the daily performance of *Agnihotra*-sacrifice, one recites three formulas that clearly show this three-fold parallelism as follows:

भूरग्नये प्राणाय स्वाहा

भुवर्वायवेऽपानाय स्वाहा

स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा

अधिभूत	**अधिदैव**	**अध्यात्म**
The earth (भूः)	The *agni*	The in-breathing (प्राण)
The atmosphere (भुवः)	The वायु	The outbreathing (अपान)
The Heaven (स्वः)	The आदित्य	The sustaining breath (व्यान)

The Divine Triad

This brings us to the triad or त्रयी विद्या, a name given to the Vedic knowledge. The earth, atmosphere and heaven are not without their respective energies— सोऽग्निमेवास्माल्लोकादसृजत वायुमन्तरिक्षलोकात् आदित्यं दिवः। The *agni* is the embodiment of the terrestrial energy, वायु is the embodiment of the atmospheric energy and आदित्य is the embodiment of the celestial energy. Fire, Air and Sun, as we know them, are only the bodies; their essence is far subtler than these gross visible bodies. This essence is known as *agni*, वायु and आदित्य for which we have no words in English or any other language and they have to be taken as technical terms, which should not be translated but should only be understood.

The divine triad and the four Vedas

For the present, what is significant is this: of the oldest literature of the world, three primary works deal mainly with these, *agni*, वायु and आदित्य. The work dealing with *agni* is the ऋग्वेद, वायु forms the subject matter of *Yajurveda* and आदित्य is

glorified in सामवेद[10]. There is a fourth *Veda*, *Atharva-Veda*, also which deals with another concept called *soma*, which is also quite important and, therefore, needs a little explanation.

त्रयी AND ATHARVA-VEDA

The *agni*, वायु and आदित्य are, in fact, three forms of *agni*. *Agni* itself is the gross form, वायु and आदित्य are subtle and subtler forms respectively. These three, and the *Vedas* dealing with these three, are, therefore, grouped together as one triad or त्रयी; *soma* is a different element. *Agni* has the assimilating power to preserve itself where as *soma* is the element which is assimilated by *agni*[11]. Unless *agni* gets *soma*, it cannot survive. This brings us from त्रयी to a duad of *agni* and *soma*.

III

THE DUAD OF *AGNI* AND *SOMA*

There is a universal formula[12]; all over the universe, *agni*, necessary for life, is being fed by *soma*. In simple terms it means that any *agni* needs fuel to keep it alive. This fuel is *soma*. *Agni* is the life force and *soma* is its food. This duality of *agni* and *soma* is expressed at different levels in different terms like mortality and immortality, dryness and wetness, expansion and contraction, stay and movement and so on and so forth.

Whereas *agni*, वायु and आदित्य form the subject mater of ऋग्वेद, यजुर्वेद and सामवेद respectively, *soma* forms the subject matter of the fourth Veda, *Atharvaveda*[13]. These four form the basic

---

10 सो ऽग्नेरवर्चोऽसजत वायोर्यजूंषि आदित्यात्सामानि–शाङ्खायन ब्राह्मण, ६.१०

11 सोमोऽन्नमग्निरन्नादः– काठकसङ्कलन, १४०

12 अग्निषोमात्मकं जगत्– बृहज्जाबालोपनिषद्, २.४

13 अथर्वणाञ्चन्द्रमा दैवतम्। तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दास्यापः स्थानम्– गोपथब्राह्मण १.२९ and आपः is सोम– आपः सोमः – शतपथ ७.१.१.२२

texts of the oldest literature of the world[14]. In short, all gross bodies are formed by *agni*, the terrestrial energy and the subject matter of ऋग्वेद, all movements are inspired by वायु, the atmospheric energy and the subject matter of *Yajurveda* and all luster is the creation of आदित्य, the subject matter of सामवेद. All life, having a body with all movements and luster, are thus, formed by the three energies. Of course, the energy, symbolised by *agni* needs a fuel and that fuel is *soma*, the subject matter of *Atharvaveda*, which upholds all[15].

IV

SYMBOLISM IN THE VEDAS

Now to understood this all, we must be able to decode the symbolic language in which the oldest literature of the world speaks. Why this literature uses symbols is a question, which can be appreciated by pondering over the difficulty in using the ordinary language in the field of modern science. *W. Heisenberg* explains this difficulty. He has been quoted by Fritjof Capra e in his famous book, *Tao of Physics*. This is what he says:

> The problem of language here is really serious. We wish to speak in some way about the structure of atoms. But we cannot speak about atoms in ordinary language[16] The knowledge about matter of this level is no longer derived from direct sensory experience, and, therefore, our ordinary language, which takes its image from the world of the senses, is no longer adequate to describe the observed phenomena[17].

---

14 चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः ब्रह्मवेदः – गोपथब्राह्मण १.२९

15 ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्–तैत्तिरीयब्राह्मण ३.२.९

16 Quoted by Fritjof Capra in Tao of Physics. P.53

17 Ibid, P.60

If this is so in the field of modern science, it is all the more so with the Vedas, which, according to सायण (the most famous commentator of the *Vedas*) deals with matters which are neither the subject of perception nor of inference— प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते एतं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता[18]. Naturally, how can we perceive or infer the situation to which we have referred to in the beginning of this chapter— the state beyond existence and non-existence? The seers, of course, 'saw' the super - sensuous truth through their spiritual powers— साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः, but when it came to expressing the truth, they had no other way but to use the symbols which they deliberately employed for conveying the truth, which, they had experienced in that great silence, where all activities of senses and mind had ceased to work[19]. The matter of the fact, is that the real meaning of that language can be understood only by those who themselves are in that state of mind, others may listen to their words but do not understand them. The Vedic seers have spoken about this problem in these words:

> Some perceive the speech but perceive it not, some listen to it but listen it not. For others it reveals, its secrets just as finely clothed faithful wife displays her body to her husband[20].

The Vedic seers are conscious, throughout, of the fact that they are speaking in a mystic way. दीर्घतमस्, for example says: Only wise men of spiritual attainment know the measured four grades of speech. Three of them are kept in secrecy and do not

---

18 सायण भाष्य on *atharvaveda* XIX 72.1

19 यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत– ऋग्वेद १०.७१.२

20 उत त्व पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृवन्न शृणोत्येनाम्
उत त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः– ऋग्वेद १०.७१.४

move; men speak only the fourth grade of speech[21]. Similarly, another seer वामदेव says: All these musical and secret words I have spoken to you, who knows, I have uttered these hymns and praises as a seer to a seer— निण्या वचांसि निवचना कवये काव्यानि[२२]

Merely knowledge of grammar and dictionary meaning of words does not take us very far. The seers, anticipating the difficulty, themselves explained the secret statements of the Vedas in the body of texts called ब्राह्मण[s]. We have seen above how a phrase 'there was neither non-existence' has been explained to mean consciousness by one of the ब्राह्मण[s]. These ब्राह्मण[s] are undisputedly the oldest interpretations of the Vedas, and, give us a deep insight into the mysteries of the *Vedas.*

V

THE TRADITION OF THE ब्राह्मण -TEXTS

Pandit Madhusudan Ojha, a pioneer in the field, draws our attention to the importance of the ब्राह्मण[s] for understanding secrets of the Vedas. He wrote profusely in the modern form of the same language, viz Sanskrit, the older form of which is used by the Vedas and which is the eldest sister, if not the mother, of all Indo-European languages. His direct disciple *Pandita Motilal Shastri* carried his message through a modern language, Hindi, the national language of India. A disciple of *Pandita Motilal Shastri, Prof. Vasudeva Sharana Agrawala* wrote in Hindi as well as in English. But still the message remained sealed for the scholars. *Shri Karpurachand Kulish*, the founder- editor of *Rajasthan Patrika*, a leading daily of Hindi, took keen interest in this new-yet-old interpretation of the Vedas with the result that it

---

21 चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुब्राह्मणा ये मनीषिणः गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति– ऋग्वेद १.१६४.४५

22 ऋग्वेद ४.३.१

started attracting the attention of a few scholars in the last decade. Still much remains to be done.

Some of the salient features of *Pandit Ojha's* method of interpretation of the ब्राह्मण[s] are as follows:

१. The *Vedas*, ब्राह्मण[s], *Upanisads* and गीता are to be taken as representing one school of thought, though emphasizing its different aspects.

२. Knowledge of the ultimate reality and science of action are inter-dependent.

३. ऋक्, यजुष् and साम are elements, which constitute any object.

४. The triad of *manas*, प्राण and वाक् constitute आत्मन्.

५. The *manas* desirse, the प्राण is inspired to become internally active (which is known as *tapas*), and the वाक् becomes externally active (which is known as श्रम). Thus we have the creation.

६. *Devas*, ऋषि[s] and पितृ[s] are basically the vital forces (प्राण).

Cosmos-Oriented Approach

The difficulty about understanding the Vedas comes from one of their special characteristics. The Vedas adopt a cosmic-oriented approach. This is their unique feature. We have three possible approaches:

(i) *Cosmic - Oriented approach*, covering the whole range of existence, conscious and unconscious.

(ii) *Society - Oriented approach*, dealing with human beings in groups.

(iii) *Individual - Oriented approach*, dealing with individuals in isolation.

Correspondingly, we have three types of literature of India. The Vedas adopt a cosmic - oriented approach. The second category of literature is known as स्मृति, which is society - oriented. The individual - oriented approach is adopted by the philosophical literature of India called दर्शन.

The later two types of literature i.e. स्मृति and दर्शन, also claim that they follow श्रुति i.e. the Vedas. The implication is that the society and the individual should base their ethos on the divine working of the cosmos. Any act of the individual or any social organization is bound to fail, if, it does not fall in line with the divine scheme of the cosmos, which is much more powerful than any man made scheme.

The Difficulty of Terminology

For the latter two types of literature, the society - oriented and the individual – oriented, we have the corresponding literature all over the world. Therefore, it is easy to find the terms in other languages for expressing ideas contained in स्मृति[5] and philosophical literature. But we hardly have anything elsewhere else corresponding to the cosmic - oriented Vedic literature. Therefore, it becomes very difficult to find suitable synonyms for Vedic words. The readers will, therefore, kindly bear with us if they find that we are using the original terms sometimes in transliterated form rather than taking the risk of translating them inadequately. For example, it would be almost impossible to translate the simple word "*dharma*", because of a holistic approach, which takes the physical world and the spiritual world together. The word "*dharma*" would stand simply for any characteristic of an element, say, for coolness in the case of water or heat in the case of fire, if we were dealing with physics; but when we are dealing with ethics, it would mean "duty". In the third context, it would mean the basic quality of an object, which upholds it e.g. law and order for the society. It is just one example. The Vedic word

'*agni*' has such a wide ramification that a novice is perplexed at the first sight and in his endeavour to give an equivalent to every word, he may simply translate it as 'fire' with the result that the spirit of the original is lost in toto. We have, therefore, used the original Sanskrit terms in the internationally accepted transliterated form.

The Model of Nature

The ब्राह्मण[s] do not paraphrase such terms, rather they try to clarify the concept. The sentences clarifying such concepts are met with in अर्थवाद. The ब्राह्मण[s] deal with the working of the natural forces in the universe. They hold that the nature's way of working provides a model for human behavior— स्वस्ति पन्थामनुचेरम सूर्याचन्द्रमसाविव and प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या। So they deal with both—the nature's way of working is dealt with under अर्थवाद and the path to be followed by human beings is elaborated under *vidhi*. Under अर्थवाद we find an explanation of what is going on in the cosmos and what are the rules that govern the cosmos. In short, it is an inter-play of *agni* consuming *soma* at a different level. This process of consumption of *soma* by *agni* is technically known as यज्ञ, which is constantly being followed in nature. We, the human beings, are to follow it in our own lives. The यज्ञ, at nature's level goes on spontaneously, whereas, human beings are to perform it with great care and exertion throughout their lives. This is obligatory and there is no alternative to it[23].

The Art of Living

The method of performance of यज्ञ is such that by its performance we achieve everything - - mundane and super mundane[24], but we are not bound by the vagaries of our prides

---

23 तदाहुः यष्टव्यमेव- मैत्रायणी संहिता २.४.१ Cf यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्-गीता १८.५

24 सर्वेभ्यो हि कामेभ्यो यज्ञः प्रयुज्यते- तैत्तिरीय संहिता २.४.११.२

and prejudices, we remain truly free and yet enjoy all the blessings of nature - a delicious food, heroic progeny, animals and men at our service, fame and, and above all, the glory of knowledge— अन्नवान् अन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभि: ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या। We relish all this, and much more, but we do not get attached to them[25]. This is the true art (or science, if you so like) of life. The best minds of India, right from the seers of the Vedas up to Mahatma Gandhi in our own times, have been developing this art for the benefit of humanity without any discrimination of cast, creed or colour[26].

Arya is Not a Race

There is a belief that the Vedas are the sacred books of the Hindus, but this belief is not supported by the Vedas themselves.

It is true that the Hindus preserved the Vedas, held them in high respect and tried to follow them through the ages, yet, as far as the Vedas are concerned, they do not speak of Hindus but give a message for all mankind. In fact, anybody and everybody can follow that message without conversion to any specific form of religion. That is why the followers of the Vedas did not believe in conversion of religion like the missionary religions, but in the conversion of heart from ignobility to nobility; the Vedic word for nobility being Arya. Western scholars, in the beginning, thought that Arya is a race, but later they said that Aryan stands for those all who speak the languages of an Aryan

---

25 न कर्म लिप्यते नरे– यजुर्वेद ४०.२

26 The Jainas and the Buddhists also held the Vedas in high esteem as is clear from the terms वेयन्न (=वेदज्ञ) in Jaina literature and वेदगू (=वेदज्ञ) and वेदपारगू (=वेदपारग:) in Buddhist literature. *Dr. Mangaldeva Shastri*, भारतीय संस्कृति का विकास, वैदिक धारा, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 3rd Edition, १९७०, P.१७४

family[27], which covers almost all the modern and classical languages of Europe as also of Iran. The tradition, however, is firm that Arya means nothing but noble. Throughout the literature, a noble man is addressed as Arya (just as we use the English term 'Sir') without any discrimination of his cast, creed or colour or ethnic or linguistic group. The message of the Vedas is for all who wish to be noble. All of us are sons of the same mother, the Earth[28].

VI

KNOWLEDGE AND ACTION

Life has two aspects—knowledge and action. Knowledge leads to freedom and action leads to success in life. Knowledge belongs to the sphere of unity, actions to the sphere of diversity. We have to involve ourselves in activities of diverse fields—physical, mental and intellectual but at the same time have to remain steadfast in the knowledge of our consciousness where all diversity dissolves into one. The activities fall under the domain of science, the realisation of unity of all existence is the fruit of knowledge par-excellence.

The word '*Veda'* has many meanings—precisely four meanings[29]—but the most important of them is 'knowledge'. Veda is the book of knowledge. It contains knowledge of two types—mundane knowledge and supra mundane knowledge— द्वे

---

27 I have declared again and again that if I say Aryan. I mean neither blood nor bones, nor skull nor hair. I mean simply those who speak the Aryan language—Max Muler quoted by Rishi Kumar Misra in his 'Before the beginning and after the End' Rupa & Co., New Delhi, 2000, P.487.

28 माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः – अथर्ववेद, १२.१.१२

29 Explained in another book **Holistic Approach of The Vedas** .

विद्ये वेदितव्ये- परा चैवापरा चैव। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। Supra mundane knowledge is knowledge par -excellence whereas mundane knowledge is pragmatic. The latter must be based on the former, but it is also equally important, rather more important than the former. If we do not possess knowledge par-excellence, we miss immortality but if we do not have mundane knowledge we meet death now and here.

This division of knowledge is based on the structure of our brain. *Fritjof Capra* describes this structure in the following manner in his book, The Turning Point :

"Left hemisphere, which seems to be more specialised in analytic, linear thinking which involves processing information sequentially, the right hemisphere, controlling the left side seems to function predominantly in a holistic mode that is appropriate for synthesis and tends to process information more diffusedly and simultaneously[30]."

Linear thinking controls the diversified activities; the knowledge par-excellence of the underlying unity is the outcome of the holistic mode of thinking. Combination of the two leads to perfection.

Holistic Approach Neglected

What happened during the last three thousand years or so is that the Indians made a blunder by neglecting the mundane knowledge under the false notion that it leads to bondage, and concentrated on knowledge par-excellence in the hope that it alone will lead to freedom. It made the nation physically and materially weak. One who is devoid of power cannot achieve the fruits of freedom also— नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः. This is the root

---

[30] Fritjof Capra, The Turning Point P.293

cause of *India's* present plight. This happened inspite of the clear warning given by the *Yajurveda* in following words:

Those who stick to mundane knowledge alone grope in darkness, but, those who confine themselves only to knowledge par - excellence are led to a still thicker darkness.

The fruits of both these kinds of knowledge are different. This have we heard from those who have delivered the secret to us.

Those who combine the mundane as well the supra-mundane knowledge, cross over the death through mundane knowledge and attain immortality through knowledge par-excellence[31].

VII

THE DIVINE SCIENCE

It is very interesting to note that the word for mundane knowledge in Vedic literature is science (विज्ञान)[32]. Any knowledge, which provides practical guidance to facilitate our worldly activities, is science. The knowledge, which leads to efficient cooking of food, is nothing short of science. The science could be divine as well as devilish. When science is backed by the knowledge of unity not only of mankind but also of all existence, it is divine; when it is based on the duality of 'one's own' and 'the other', it is devilish. The यज्ञ is a divine science दैवीं नावं स्वरित्रामनागमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये।

---

३१ अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते। ततो भूय इव वे तमो य उ विद्यायां रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहरविद्यया। इति शुश्रमः धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥
विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥– यजुर्वेद ४०.१०–१२

32 विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च – तैत्तिरीयारण्यक ८.५.१

The गीता, the most popular work of Vedic tradition, laid equal emphasis on action and knowledge[33] and yet its message was lost to those who declared the world to be an illusion—जगन्मिथ्या —and, hence, all worldly activities as reprehensible. The Vedic literature declared in unequivocal term that names and forms are true[34] and, therefore, the world is not an illusion but an embodiment of the creator.

Unity in Diversity

With unity of the universe, the Vedic literature is undoubtedly monotheistic but it speaks of one reality under many names in accordance with its various aspects[35]. The forms of reality under different names also differ, but, this difference is not of fundamental nature. Fundamental is the unity of all existence[36]. This concept leads to identification of one name and form of reality with all other names and forms of reality. The difference of names and forms is due to the difference of activities that characterize the reality.

It is the grandeur of reality that so many activities are associated with it[37]. Reality is throbbing with life at every minutest point. This is due to the omnipresent vital forces (प्राण). These vital forces are termed as *devas*[38], if associated with solar system and देवताs, if not associated with solar system. As performer of different activities these *devas* or देवताs are different but as vital force they are one. Any *deva*, therefore, can be identified with any other *deva*.

---

33 ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः – गीता ७.२

34 नामरूपे सत्यम्– शतपथ १४.४.४.३

35 अपि वा कर्मपृथक्त्वात् – निरुक्त ७.२

36 एकं वा इदं विबभूव सर्वम् – ऋग्वेद ८.५.८२

37 महाभाग्यादेश्वर्ययोगादेकात्मनामनेकधा बहूनि नामधेयानि भवन्ति-- दुर्गाचार्य on निरुक्त ७.२

38 प्राणाः वै देवाः – तैतिरीय संहिता ६.१.४.५

When we speak of one *deva*, we extol him as superior to all other *devas* with reference to the performance of a particular activity. In reality, there is no superiority or inferiority of one *deva* over the other[39].

The *devas* or vital forces work at all levels – physical, mental or intellectual. *Agni*, for example, not only cooks the food at physical level as simple fire of the kitchen, but also digests the food within the body as life giving force (वैश्वानर)[40] and inspires the intellect as seer[41]. The simple truth is that energy is one which works at all levels, physical as well as supra physical.

VIII

MIND AND MATTER

This energy is psychic, a living force, and not a blind force of dead nature. Therefore, we have cosmos and not chaos. In fact, there is nothing dead in the cosmos, otherwise how could it obey the laws, which are not blind, but meaningful? Every particle of the universe is proceeding on a purposeful journey. The difference between mind and matter is that of degree and not of fundamental nature.

Mind and matter no longer appear to belong to two fundamentally separate categories, as Descartes believed, but, can be seen to represent merely different aspects of the same universal process. We realise that the environment is not only alive but also mindful, like ourselves[42].

Whereas some thinkers of the West once believed animals not as living beings but as 'crying machine', *Sir*

---

39 न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतो महान्त इत्– ऋग्वेद ८.३०.१

40 अयमिग्नवैंश्वानरः योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते– शतपथब्राह्मण १४.८.१०.१

41 अग्निर्ऋषिः – मैत्रायणी संहिता १.६.१

42 *Fritjof Capra*, The Turning Point P. २६०.२६१

Jagadish Chandra Bose proved scientifically, what *Manu* had declared thousands of years ago, that even plants have the feeling of pain and pleasure— अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमविन्वताः। Vedas go a step further and declare that even stones have a soul, which means that they have not only a body, but also a life-force and a mind. It is, therefore, meaningful to address the stones like; 'O stones! listen'[43].

Creator and Creation

All this is the byproduct of what we have said in the beginning — the consciousness has unfolded itself as universe. No part of the universe can, therefore, be without mind.

> "God is not the creator, but the mind of universe. A living organism is a self organising system which means that its order is not imposed by the environment but is established by the system itself"[44].

In short, the Vedic literature summarises the position when it says "the creator created the creation and himself entered into it[45]. The *Vedas* do not preach animism of the primitive man but livingness of everything of the universe, which saves it from being a chaos.

The Relation of the Whole and its Parts

We have to appreciate the difference between the two approaches—the approach of the materialist and the approach of the spiritualist. The materialist believes that the whole is composed of parts just as a car is composed of its different parts.

---

43 शृण्वन्तु ग्रावाणः – तैत्तिरीयसंहिता १.३.१३.१

44 *Fritjof Capra*: The Turning Point P.२६०

45 तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् – तैत्तिरीयोपनिषद् २.६

The tyres of a car may be made somewhere else in a different factory; the engine in a different factory and the body of the car in a third factory and all the three may be joined together to make a car. This cannot happen with a tree i.e. we cannot create its trunk, branches, leaves, flowers and fruits at different places and join them together to make a tree. This is so because a car has no life whereas the tree has life. The question is—whether this universe is a living organism, or, a machine, having diverse parts. If it is a living organism, it must have one origin and that one may assume diversity; if it is a machine, its various parts should be fundamentally different. The Vedic seers hold that the universe is a living organism and, therefore, it has one origin of all, whether living or non-living[46]. How one becomes many and that too of diametrically opposite nature is the central theme of the Vedic literature. Therefore, let us deal with this process.

One becomes many

The one consciousness has an inherent power, and, just as heat is not different from fire, this inherent power is not different from consciousness[47]. This power of consciousness expresses itself in the form of activity through which the un-manifest consciousness becomes manifest[48]. This manifestation of consciousness is the universe. This is comparable to our state of awakening after sleep[49]. This activity of the consciousness starts covering the consciousness gradually with the result that

---

46 एकं वा इदं विबभूव सर्वम्- ऋग्वेद ८.५८.२

47 ज्ञानं शिवः कर्म च तच्छक्तिः शक्तिशक्तिमतोश्चाविनाभावः - महर्षिकुलवैभव p.५

48 उभयं वैतत्प्रजापतिर्निरुक्तश्चानिरुक्तश्च- शतपथ ६.५.३.७

49 अव्यक्ताद व्यक्तय सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके-- गीता ८.१८

there starts a journey from the subtle to gross. This power is called the power of limiting (माया) the unlimited.

IX

FOUR QUADRUPLET

Consciousness has no limit, but as this power, माया, starts working, a limit is put to it. Unlimited consciousness cannot create, only the limited consciousness (called पुरुष) can create. There is movement—centrifugal and centripetal: centrifugal movement gives birth to *agni* which expands and centripetal movement gives birth to *soma*, which contracts. *Soma* is the food to be consumed (*bhogya*) and *agni* is the consumer (भोक्ता)[50] *Agni*, again, assumes three forms: gross, subtle and subtler i.e. *agni*, वायु and आदित्य. Added to this triad, *soma*, form the quadruplet. These four—*agni*, वायु, आदित्य and *soma* form the subject matter of the four Vedas.

At the physical level also, we have the triad of earth, atmosphere and heaven to which is added the region of undisturbed energy (called आपः), thus making a quadruplet at the physical level[51].

At the micro level, first we have the duality of soul and body. The body is again three fold—the gross, the subtle and the causal. The gross is made up of flesh, blood and bones etc. The subtle body consists of five sensory senses, mind, intellect, five vital forces and five motor nerves (*karmendriays*). The causal body carries the impressions of our activities. These three bodies coupled with soul make another quadruplet at micro level.

---

50 स्वधा अवस्तात्, प्रयतिः परस्तात्– ऋग्वेद १०.१२९.६

51 अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः – कौषीतकिब्राह्मण १२.२ This आपोलोक is also known as परमेष्ठी.

At the level of nature, we have a three-fold division of nature — the dormant, the dynamic and the illuminating. The dormant part of nature forms the body, the dynamic part imparts movement and the illuminating part forms the intelligence. Added to this triad is the soul beyond nature and we have yet another quadruplet.

Four Duads

(i) Now, let us first of all understand the nature of duads. A part of the consciousness is manifest, another part remains un-manifest, but the consciousness basically remains undivided. Manifest and un-manifest are apparently opposed to each other but fundamentally they are one.

(ii) Let us take another duad of *agni* and *soma*. *Agni* moves from the center towards circumference but only up to a mark and then it starts moving back to the center i.e. it converts itself into *soma*. Similarly, *soma* moves from circumference to the center but after a limit it turns back to circumference thus playing the role of *agni*. This means that though apparently opponents, yet *agni* and *soma* are inter-convertible. They supplement each other. Without this duad helping each other, creation is just impossible. If *agni* were to have only centrifugal movement, things will go on expanding infinitely, reducing themselves to naught. If *soma*, on the other hand, were to have infinite centripetal movement, things will go on contracting to a point when they become zero. Similarly, the duads of soul and body, and consciousness and nature, help each other.

(iii) We can have a familiar example of men and women. They are basically one. That is why change of sex is possible. But they play a different role in procreation. Manu says that same self bifurcated itself into two[52]—man and woman.

(iv) This is how, by realizing the basic unity underlying duality; we can establish harmony in contradiction. The basic duality is that of being and becoming, the continuity and change. The body, for example, changes, the soul remains unchanged and both of them go together.

Triads

Coming to triads, there are basically three forms—gross, subtle and subtler—of the self-same element. All these three go together. This produces not only plurality but also the diversity.

When we come to quadruplets, we find that the first three constituents of each quadruplet are immanent whereas the last one is transcendental. Nature, with its three constituent attributes, for example, is changeable, whereas the soul is immutable. The Vedic seers did not neglect either the immanent or the transcendental aspect of life. Worldly prosperity and spiritual peace must go together.

Having dealt with some hints about how one becomes many, it would be appropriate now in the fitness of things to go in to some details of यज्ञ, which is the pivot on which the whole Vedic thought rotates.

---

52 द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी स तस्यां विराजमसृजत्प्रभुः – मनुस्मृति १.३२

The Process of Assimilation

We have said that the oblation of *soma*, the food, into *agni*, the consumer, is यज्ञ. A little thought will reveal that this process of assimilation and elimination is the cause of all changes from birth to death. The quality and the quantity of *soma* decide the form of an object. It varies from time to time and object to object. Hence there is difference between one object and another object. The *soma* helps *agni* and is, as it were, its junior partner[53]. This process of यज्ञ then brings about six modifications— the birth, existence, growth, change, decay and destruction. This is how यज्ञ becomes all pervading in the universe.

Now, when *agni* consumes the *soma*, it cannot assimilate the whole of it. The portion, which is assimilated by it, becomes its part and parcel (*Brahmaudana*)[54]. The rest of the portion is ejected away by it, which becomes the food of another object (*pravargya*)[55]. The cow eats grass, a portion of which is absorbed by her body, but another portion is ejected as milk or cow-dung. Milk becomes the food for the calf and cow-dung becomes food for the plants. This is the natural process of give-and-take, which is imitated in the society— ददाति प्रतिगृह्णाति एष धर्मः सनातनः।

X

THE SEASONS

At the physical level, the earth revolves round the sun, not in a circle but in an ecliptic form. This is known as the crooked movement of the earth, (*sarvatsara*) which makes the

---

53 अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः – ऋग्वेद ५.४४.१५

54 यत्सौम्यमाहरन्ति तेन ब्रह्मौदनः – जैमिनीयब्राह्मण २.३०

55 अथ यत्प्रावृज्यत तस्मात्प्रवर्ग्यः – शतपथ १४.१.१०

year (*samvatsara*) to consist of different seasons which again are nothing but a combination of hot and cold, hot being the *agni* and cold being the *soma*[56]. Thus, seasons are also the result of यज्ञ through which the year regulates the universe[57] and the seasons become creative[58]. The seed is sown at a particular temperature and the crops ripe at another temperature. Seasons thus become important in the creative process. That is why seasons play a deciding role in the performance of यज्ञ[s], and therefore, they are spoken of as पितृ[s] i.e. having the energy to procreate.

The food grain is prepared through a natural यज्ञ going on in the nature. The plant assimilates four elements from earth, atmosphere, heaven and आपोलोक — the solid part from the earth (known as *dadhi*), oiliness from atmosphere (known as घृत) sweetness from heaven (known as *madhu*)[59] and tastefulness from आपोलोक (known as *soma*)[60].

The Cow

In milk of the cow, all of these four elements are available, because she is the abode of the *devas* of earth (i.e. *vasu*)[61], of atmosphere (i.e. *rudra*)[62], of heaven (i.e. आदित्य)[63] and

---

56 यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्र तत्सौम्यम् – शतपथ १.६.३.२३

57 संवत्सरो वै यज्ञः प्रजापतिः– Ibid ११.१.१

58 पितरो वा ऋतवः – मैत्रायणी संहिता १.१०.१७

59 एतदु परममन्नं यद् दधि मधु घृतम् – शतपथ ९.२.१.१२ and दधि हैवास्य लोकस्य रूपम् घृतमन्तरिक्षस्य। मध्वमुष्य – शतपथ ७.५.१.३

60 रस इव खलु वा अन्नम् – तैत्तिरीय संहिता २.१.७.५

61 वसवः पृथिवीश्रितः – तैत्तिरीयरण्यक १.१४.४.१

62 रुद्राः पितामहा अन्तरिक्षाधिपतयः – काठकसंकलन १४.१४

63 दिवं लोकानां जयत्यादित्यम्– जैमिनीय ब्राह्मण ११२७

is the center of nectar[64]. She is not to be tortured. Her milk should rather be used, which is tasteful, invigorating and above all having medicinal qualities—

स्वादु पाकरसं स्निग्धमोजस्यं धातुवर्धनम्। प्रायः पयस्तत्र गव्यं तु जीवनीयं रसायनम्॥

This factor made cow an object of worship for the Vedic people.

Our Bodies

When milk of the cow or any other food-grain, is consumed by us, another यज्ञ starts in the digestive system (वैश्वानर form of *agni*). A part of it is assimilated; the other part is eliminated as excreta. The assimilated part is again offered as oblation and the eliminated part is retained as liquid and the assimilated part is converted into blood. The process continues and we have flesh, fat, bones, marrow and semen- रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेदस्ततोऽस्थि च। अस्थिनो मज्जाः ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः। So far the terrestrial portion (called *dadhi*) of the food is active. The atmospheric part of the food (called घृत) changes into luster of halo and the last, super-most celestial, part (called *madhu*) becomes mind. Thus the oblations of the whole universe work in the production of a single food grain and that food grain makes our total personality from body to mind. It is because of this that the Vedic people took special care about the food they ate– अन्नमयं हि सौम्य मनः।

XI

THE PHILOSOPHY OF DYNAMISM

---

64 माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्वानाममृतस्य नाभिः। प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट – ऋग्वेद ८.१०१.१५

The Vedas attribute a very high place to the active worldly life because it is only a householder who can perform यज्ञ. It takes two to perform a यज्ञ, a husband and a wife, both of whom are replica of *agni* and *soma*; one is incomplete without the other. A student (ब्रह्मचारी), a recluse (वानप्रस्थ) or an ascetic (सन्यासी)—all depend on a householder not only for food but for knowledge also[65]. The Sanskrit word for wife (पत्नी) is a synonym for one who shares the यज्ञ with her husband— पत्युर्नो यज्ञसंयोगे.

Desires

Desires cover a very wide range. In fact, sex is a small part of one of the four ends of human life i.e. fulfillment of desires (काम). Desires are a part of the universal scheme. Man is a psychosomatic creature—he has both the body and the mind. Desire is the essence of mind[66]. We cannot eliminate it. In fact no यज्ञ can be performed without a desire. The first यज्ञ, which created the universe, is called the yielder of desires (कामप्र)[67].

Desires, as we know, take us astray but they are the essential parts of our being. *Manu* says that desires, therefore, are to be sublimated and not to be uprooted. They can be controlled by limiting them to the study of the Vedas and to the performance of the activities prescribed therein. It is not a dogmatic assertion but a call for going to the roots of our existence. We perceive the gross physical existence through our senses. So do the animals. The roots of this existence lie in the subtle, which is beyond senses and can be known only through the Vedas, which contain the statements of the seers having

---

65 यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही – मनुस्मृति ३.७८

66 कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् – ऋग्वेद १०.१२९.४

67 शतपथ ११.१.६.१३–१९

super-sensory powers. Those seers prescribed a course of action also for all of us, which we should follow. It is a course of action based, not only on the common - sense understanding of the worldly necessities of the individual or the society, but also, on the deep understanding of the ultimate destiny of man. Man, amongst all creatures, has a special target to achieve for which even the gods are not entitled.and that is to obtain liberation here and now.

The Man

There is a story in the शतपथ. Creatures—demons, gods, and the departed souls having ethereal bodies, men and animals—approached the Lord to enquire as to what should be their food. The Lord ordained that the gods should take food offered to them in *Yajña* (स्वाहा by name) once in a year, in the bright half (उत्तरायण) of the year. Moreover, solar light shall be their food. For the departed souls, he prescribed the taking of food (स्वधा by name) once in a month. Moreover, lunar light shall be their food. For men, he prescribed taking of food (नमः by name) twice a day, morning and evening. Moreover, light of fire shall be their food. For animals, no timings for food were prescribed. Men shall be their light. For demons, deceitfulness was prescribed as food. Moreover, ignorance itself shall be their light.

The story continues that every creature followed the order of the Lord, except men— मनुष्य एवैके अतिक्रामन्ति. It is a symbolic story. All creatures, except men, follow the laws of nature. It is only men who violate the laws and pollute nature. And yet, he is supreme. The reason is that he is nearest to Lord[68]. All *devas* reside in him collectively. God made man after

---

68 पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम् – शतपथ ४.३.४.३

his own image. All other creatures merely exist, man alone has a life because he seeks some purpose of his existence. He is not satisfied merely with food, clothing and housing but seeks the Truth, the Good and the Beautiful. In other words, he seeks his identification with the creator, which no other creature does. He can do so because he can apply his mind (*Mana*, from which the word 'man' is derived)[69].

The universe is an expansion of the creator (सर्वप्रजापति) but he himself stays immutable at the center (*yoni*) (नभ्य प्रजापति)[70]. All creatures dwell at the circumference, man alone can approach the center. He can, therefore, attain perfection. The true life (प्राण) lies at the center, name and form only cover it[71]. It is this center, by knowing which one knows everything, just as, by knowing clay one knows everything made of clay, the pitcher, the pot etc. The center is abstract (ऋत) and the circumference is concrete (*satya*). This centre is known by various names - *agni*, *manu* and प्रजापति, *Indra*, प्राण and ब्रह्मा.[72] Man is the only creature who can attain perfection by getting into touch with the centre and yet, he violates the laws of nature because he is afflicted by ignorance and its offshoots—ego, attachment, aversion, and prejudices. The only saving clause is that he can overcome ignorance and its effects by knowledge and by following the path of action prescribed by the Vedas. He has the choice to remain in ignorance or to dispel it by knowledge; this is his freedom of will.

---

69 सः प्रजापतिः देवान् सृष्ट्वा मनस्यतेव, तेन मनुष्यानसृजत। तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वम्। स यस्तन्मनुष्याणां मनुष्यत्वं वेद। मनस्वान् ह भवति – मैत्रायणीसंहिता ४.२.१

70 प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ – यजुर्वेद ३१.१९

71 प्राणा वा अमृतम्। नामरूपे सत्यम्। ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः– शतपथ १४.४.४.३

72 एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् – मनुस्मृति १२.११९

XII

THE EVOLUTION

The Vedas have a theory of evolution of their own which is different from that of Darwin because it does not start from amoeba but from matter and minerals. We have spoken of *agni*, वायु, आदित्य and *soma*. They indicate the different stages of evolution. *Agni* is omnipresent; it is present even in a piece of stone. Earth, in fact, is said to contain *agni* in its womb. The terrestrial form of life is the lowest. A piece of stone touches the earth with its whole body. It has no awareness (असंज्ञ), though it is living; just as we have no awareness when we are unconscious. Then comes the vegetable kingdom. It raises its body from the earth in the atmosphere, touching the earth with one foot i.e. its trunk. The वायु, the *deva* of atmosphere becomes active. Thus we have plants that are inwardly conscious (अन्तः संज्ञ) but outwardly unconscious. Then comes the animal kingdom. Insects touch the earth with more than two feet, four, six or even more in the case of centipedes. Here, the gravitational force of earth has started diminishing, the celestial *deva*, सूर्य, has started expressing itself.

The animals become conscious outwardly also, (बहिः संज्ञ) yet, they still face the earth, their backbones remain parallel to earth. In the case of man, the gravitational force of earth becomes weaker still. He stands erect, perpendicular to earth. We see that with the effect of the gravitational force of earth growing weaker and of sun becoming stronger, the pattern of the body also shows the corresponding change, and with the change of body, intellect also evolves gradually; man being at the top of such evolutionary ladder.

But the process of evolution does not stop here. There is something beyond intellect which remains un-affected by the up and down of life— असङ्गो ह्ययं पुरुषः। It is the soul. Those amongst men, who transcend the intellect, realise this soul and by which

realization, they approach the centre of which we have spoken above. This state is the state of *soma*, beyond आदित्य. Thus corresponding to the four *devas* we have four stages of evolution, as shown in the chart given below:-

DEVA	VEDA	POWER	CREATURE
Agni	ऋग्वेद	To have basic life force	Stones Minerals etc
वायु	Yajurveda	To feel inwardly	Plants
आदित्य	सामवेद	To feel and to express outwardly	(i) Insects touching the earth with maximum part of their body. (ii) Animals facing the earth. (iii) Birds with face little above the earth. (iv) Men – Standing erect.
Soma	Atharaveda	Transcending intellect	Realized soul.

At the level of the creator (पुरुष) also, we have these four stages; the first stage (called क्षर) is *agni*-predominated. The second stage (called अक्षर) is वायु - predominated. The third stage (called avyaya) is आदित्य - predominated and the last stage (called परात्पर) is *soma*-predominated. Now, because the creator (पुरुष) has these four stages, which have their correspondence in man alone, therefore, man and creator have been given a common name—पुरुष. It is not that men have imagined God in their own image, God has really fashioned man in his own image.

XIII

THE ENDS OF HUMAN LIFE

These four stages of development constitute the body, the mind, the intellect and the soul of a man. Each of these constituents has its own requirement. The body requires the material things (*artha*), the mind requires fulfillment of desires (काम), the intellect require justice (*dharma*) and the soul demands freedom (मोक्ष). These are the four ends of human life (पुरु षार्थ), which make it perfect. None of them is to be neglected. This is the holistic approach of the Vedas. Thus we have the following quadruplets corresponding to the four Vedas.

VEDA	END OF HUMAN LIFE	PORTION OF LIFE IN WHICH THE END IS TO BE ACHIEVED	CLASS OF SOCIETY WHICH MEETS THE REQUIREMENT
ऋग्वेद	Material objects	First 25 years of student life.	The working class.
Yajurveda	Desires	Second portion of life (25-50): house holder's life.	The business community.
सामवेद	Justice	Third portion of retired life of contemplation (50-75) .	The administrators.
Atharvaveda	Freedom	The last of life: Ascetics (75-100)	The philosophers.

The Five Layers At Micro And Macro Level

This holistic approach has another dimension also. We understand our existence through the understanding of the universe and vice-versa. That takes us to the unity of micro and macro, leading ultimately to non-duality of all. Every statement of Veda, therefore, has to be applied at micro (आध्यात्म) and macro (अधिभूत) level, as also, to the third level which relates the two

(अधिदैव) Let us start from the micro level. Body, mind and intellect are three levels, which are manifest. The sub-conscious mind is the fourth level, which is semi-manifest. The fifth is the un-manifest level of nature, which is all pervading. Now at the macro or physical level, we have earth corresponding to body, water corresponding to mind, fire corresponding to intellect, air corresponding to sub-conscious mind and space corresponding to the all-pervading mother nature.

In between these two, lies the five-fold (पञ्चपर्वा) universe. The earth, the moon and the sun are manifest. But that is not the end of the universe. The sun rotates around another body, which we have called the fourth region (आपोलोक), which is semi-manifest. At the end, is the un-manifest self-born body of the origin of the universe. Thus, we get the following three pentads:

MICRO LEVEL	MACRO LEVEL OF THE PHYSICAL ELEMENTS	THE CORRESPONDING LAYER OF THE FIVE FOLD UNIVERSE
Un-manifest nature (*avyakta*)	Space	The self-born creator (स्वयम्भू)
Sub conscious mind (महान्)	Air	The region of *Soma* (परमेष्ठी)
Intellect (*Buddhi*)	Fire	The Sun
Mind (*Manas*)	Water	The Moon
Body (शरीर)	Clay	The earth

XIV

The यज्ञ And Our Life

Before concluding, we would like to give a quotation from an ancient Vedic work, so as to show how deep and wide is

the understanding of Vedic seers regarding यज्ञ which constitutes the central theme of the Vedic literature.

> The soul is the performer of the यज्ञ. Faith is its wife. The body is the fuel. The chest is the alter. The hair on the body is the sacred grass (कुशा). The knowledge is the turf. The heart is the sacrificial post. The desires are the purified butter. Anger is the animal to be sacrificed. Penance is the fire. Self-control is the pacifier. Speech is the fee. The life force is the priest specializing in the ऋग्वेद. The eyes are the priests specialising in the सामवेद. Mind is the priest specializing in the *Yajurveda*. Ears are the priests specialising in the *Atharvaveda*. The performer is initiated for the period of his whole life. Whatever he eats is the oblation. Whatever he drinks is *soma*. His enjoyments are his milieu. His acts of walking, sitting, and standing are the remnants of यज्ञ. His mouth is the solar fire. The food that he takes in the morning and evening is the fuel. The timings of morning, noon and evening are the sessions. Day and night are the यज्ञ to be performed at fortnight. Fortnights and months are the यज्ञ to be performed at every four months. Years are the अहर्गण. This is the session of all the Vedas, which comes to a conclusion only with death. It continues for the whole life[73].

This makes it abundantly clear that यज्ञ means something deeper than a mere mechanical ritual.

❐❐❐

---

73 तैत्तिरीयारण्यक, १०.६४.१

यज्ञ विज्ञान

[यज्ञविद्या की आधुनिक विज्ञान के साथ तुलना करते हुए यज्ञ की प्रक्रिया का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस लेख में है— सम्पादक]

आईन्स्टीन की खोज

२०वीं शताब्दी में विज्ञान ने जो खोजें की उनमें सबसे अधिक क्रांतिकारो खोज एक सूत्र था, जिस सूत्र के अनुसार मैटर एनर्जी में और एनर्जी मैटर में बदली सकती है। वह प्रसिद्ध सूत्र, जिसका निर्माण आईन्स्टीन ने किया था, है- $E=Mc^2$ इस सूत्र के अनुसार मैटर अर्थात् भूत को एनर्जी एवं एनर्जी अर्थात् ऊर्जा को भूत में बदला जा सकता है । इसी सूत्र के अनुसार हमने आणविक शक्ति प्राप्त की, जिस शक्ति का एक रूप एटम बम है।

ऐतरेय की खोज-यज्ञ का लक्षण

ऐतरेय आरण्यक में इस उपर्युक्त सूत्र से एक कदम आगे बढ़कर कहा गया कि चित्त अर्थात् चेतना का वाक् अर्थात् भूत में और वाक् अर्थात् भूत का चित्त अर्थात् चेतना में परिवर्तन हो सकता है और वाक् तथा चित्त का यह अन्योन्य विनिमय ही यज्ञ है- **वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरिक्रमो यद्यज्ञः**। (ऐतरेय आरण्यक २.३.३.१५)

ऐतरेय महर्षि के अनुसार यह यज्ञ का लक्षण है। महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने इस वाक्य की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया कि चित्त सीधा वाक् मं या वाक् सीधी चित्त में परिणत नहीं होती अपितु चित्त प्रथम प्राण में परिणत होता है और फिर प्राण वाक् में परिवर्तित हो

जाता है। यदि हम इस प्रक्रिया को समझ लें कि चित्त किस प्रकार प्राण में तथा किस प्रकार भूत में परिणत हो जाता है तो हमें यज्ञ-विज्ञान की वैज्ञानिकता हृदयंगम हो जाएगी और इस बात का भी रहस्य उद्घाटित हो जाएगा कि क्यों तैत्तिरीय आरण्यक ने यह कहा कि विज्ञान यज्ञ की प्रक्रिया के विस्तार का नाम है- **विज्ञानं यज्ञं तनुते** (तैत्तिरीयारण्यक ८.२.१)।

जे.ईग्गलिन्ग की आपत्ति

यज्ञ एक सम्पूर्ण विज्ञान है, विज्ञानाभास या अधकचरा विज्ञान (Pseudo Science) नहीं, जैसा कि पश्चिमी विद्वानों का विचार है। यज्ञ की सबसे प्राचीन, प्रामाणिक तथा विस्तृत व्याख्या करने वाले शतपथ ब्राह्मण ग्रंथ के पाँच भागों में अनुवाद करने वाले विद्वान् जे. ईग्गलिन्ग अपने अनुवाद के प्रथम भाग की भूमिका के प्रारम्भ में ही लिखते हैं कि ब्राह्मण ग्रंथों में थका देने वाली ऐसी अटपटी व्याख्यायें हैं, जिनमें गंभीर तर्क के स्थान पर अंधविश्वास पूर्ण वक्तव्य तथा अधकचरे प्रतीक भरे पड़े हैं तथा जिनके अटपटेपन की तुलना में शायद ही कोई दूसरा ग्रंथ ठहर पाए।

आईन्स्टीन और जे. ईग्गलिन्ग

जे. ईग्गलिन्ग जब लिख रहे थे तब अभी आईन्स्टीन का वह सूत्र नहीं बना था, जिसका उल्लेख हमने प्रारम्भ में किया है, अन्यथा वे ऐसा लिखने का साहस कदापि न कर पाते। वह यह स्पष्ट देख लेते कि ऐतरेय महर्षि ने जो यज्ञ की परिभाषा दी है, वह आईन्स्टीन के सूत्र से भी एक कदम आगे है। आईन्स्टीन के पहले जो कुछ अटपटा, तर्क विरुद्ध, अंधविश्वास और रहस्यमय लग रहा था, सापेक्षता के सिद्धान्त, क्वाण्टम फिजिक्स परा-परमाणु (Subatomic world) तथा संभावना के सिद्धांत (Theory of Probability) आदि वैज्ञानिक उपलब्धियों के बाद वह आज परमसत्य, तर्कसंगत तथा विज्ञानसम्मत माना जाने लगा है। फ्रिटिजॉफ

काप्रा के ग्रंथ Tau of Physics जैसे अनकानेक पश्चिमी वैज्ञानिकों के लेखन द्वारा विज्ञान की अधुनातन खोजों का वैदिक ऋषियों की वाणी से अद्भुत साम्य स्थापित कर दिया गया है। आज नहीं तो कल, वेद-विज्ञान का सूर्य अपने पूर्ण आभामण्डल के साथ बौद्धिक जगत् के अम्बर में उदित होने वाला ह। आवश्यकता यज्ञविद्या को बुद्धिसंगत ढंग से प्रस्तुत करने की है।

आईन्स्टीन और महर्षि ऐतरेय

आईन्स्टीन और ऐतरेय महर्षि के सूत्रों में तुलना करें तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि आईन्स्टीन के सूत्र दो घटक हैं- ऊर्जा एवं पदार्थ, जबकि ऐतरेय के सूत्र में तीन घटक हैं- चित्त, प्राण और पदार्थ। ऐतरेय महर्षि के सूत्र में प्रथम घटक 'चित्त' अधिक है। यही घटक यज्ञ-विद्या को चेतन से जोड़ कर देव-विद्या बना देता है, जबकि आईन्स्टीन के सूत्र में चेतना को कोई स्थान नहों। अत: विज्ञान भूत-विद्या तक ही सीमित रह जाता है।

श्रोडीन्गर और अद्वैतवाद

२१ वीं शताब्दी भूत विद्या की सीमा को समझ रही है। जब विज्ञान के सम्मुख यह तथ्य आया कि प्रकाश परमाणु (Particle) है या तरंग (Wave) तो पता चला कि वह अपने आप में न परमाणु है, न तरंग, द्रष्टा उसे किस रूप में देखना चाहता है, वह उसी रूप में दिख जाता है। इस विस्मयकारी खोज ने यह समझ पैदा कर दी कि दृश्य को द्रष्टा के बिना विश्लेषित नहीं किया जा सकता, बल्कि दृश्य और द्रष्टा दो हैं ही नहीं। यह खोज क्रान्तिकारी थी, क्योंकि इसने डेकार्टे के मैटर और माइंड के द्वैतवाद को ध्वस्त करके द्रष्टा अर्थात् पुरुष और दृश्य अर्थात् प्रकृति में अद्वैत स्थापित कर दिया।

वेद की वेदता

Subject and object are only one. The Barrier between them cannot be said to have broken down as a result of recent experience in the Physical Science for this barrier does not exist.

-Erwing Schrodinger, What is Life? Mind and Matter,
(Cambridge University Press, Cambridge, 1962)P.137

यह अद्वैत तर्कगम्य न होकर, अनुभवगम्य ह। तर्क के लिए कम-से-कम साधन (लिंग) और साध्य दो चाहिए, जहाँ द्वैत है ही नहीं वहाँ साधन और साध्य अलग-अलग कैसे रह सकते हैं? यदि साधन साध्य दो नहीं हैं तो अनुमान ही कैसे होगा? अनुमान का क्षेत्र व्यवहार है, क्योंकि वहाँ द्वैत है, परमार्थ में अद्वैत है। अतः वहाँ योगज प्रत्यक्ष अथवा श्रुति-प्रमाण की ही गति है, अनुमान अथवा तर्क की नहीं। इन्द्रियज प्रत्यक्ष का तो प्रश्न ही नहीं है-

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न विद्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता।।

क्वाण्टम सिद्धान्त और वैदिक देव

भारतीय परम्परा श्रुति को तर्क की कसौटी पर कसने की धृष्टता तो नहीं करती, किन्तु श्रुत्यनुकूल तर्क की खोज का समर्थन अवश्य करती है- **श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसंधीयताम्** अथवा **यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः।** तदनुसार हम यज्ञ की प्रक्रिया पर यथाशक्ति बुद्धिवादी ढंग से विचार करें। आज क्वाण्टम सिद्धान्त के अनुसार संसार के सभी पदार्थ परमाणुओं से नहीं, अपितु क्वाण्टम अर्थात् ऊर्जा समूह से बने हैं। हम पहले कह चुके हैं कि क्वाण्टम का अर्थ है Packets of energy. दूसरी ओर मनु की इस उक्ति पर विचार करें कि समस्त जगत् देवों से बना है- **देवेभ्यश्च जगत्सर्वम्**। देव क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रुति की शरण में जाएँ तो उत्तर मिलेगा- **' देवः प्राण इति'** अर्थात् प्राण ही देव हैं। पूरी स्थिति का समीकरण इस प्रकार होगा -

क्वाण्टम(ऊर्जा समूह)	=	जगत्
देव (प्राण)	=	जगत्
अत: ऊर्जासमूह	=	प्राण
अत: क्वाण्टम	=	देव

प्राण और ऊर्जा का भेद

उपर्युक्त समीकरण में इतना ध्यान रखना होगा कि क्वाण्टम के अन्तर्गत ऊर्जा समूह जड है, जबकि देव-विज्ञान के अन्तर्गत प्राण चेतन है। यही अन्तर इस बात का कारण है कि ऐतरेय के सूत्र में चित्त अर्थात् चेतना का समावेश हो सका, जबकि आईन्स्टीन ने चेतना का कोई उल्लेख नहीं किया है।

ऐतरेय के सूत्र के तीन घटकों को देखें। चित्त चेतना है, प्राण ऊर्जा है, वाक् पदार्थ है। पदार्थ से ऊर्जा सूक्ष्म है, ऊर्जा से चेतना सूक्ष्म है। सूक्ष्म की पकड़ में स्थूल रहता है। इस नियमानुसार चेतना की पकड़ में ऊर्जा तथा ऊर्जा की पकड़ में पदार्थ है। चेतना अथवा मन की शक्ति मंत्र है- **मननान्मंत्र:।** ऊर्जा अथवा प्राण देव है- **देव: प्राण:**। मंत्र से देवों का आह्वान किया जाए तो वे देव आते हैं। ये देव ही समस्त जगत् के निर्माता हैं- **जायमानो वै जायते सर्वाभ्य एताभ्य एव देवताभ्य:**।

संकल्प शक्ति और यज्ञ

इस पृष्ठभूमि के साथ श्रुति प्रमाण के आधार पर यह देखा जाए कि यज्ञ द्वारा कैसे कामनाओं की पूर्ति होती है क्योंकि यज्ञ सभी प्रकार की कामनाओं की पूर्ति के लिए किया जाता है- **सर्वेभ्य: हि कामेभ्यो यज्ञ: प्रयुज्यते।** (तैत्तिरीय संहिता, २.४.११.२) यहाँ यह शंका नहीं करनी चाहिए कि कामना तो बंधन का कारण है, फिर यज्ञ भी सकाम होने के कारण बंधन का कारण हो जाएगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पुरुषार्थों में काम भी एक महनीय पुरुषार्थ है। सृष्टि के प्रारम्भ में काम ही

उत्पन्न हुआ- **कामस्तदग्रे समवर्ततााधि।** अथर्ववेद कहा है कि - 'काम प्रथम उत्पन्न हुआ। उसका पार न देव पा सके, न पितर, न मर्त्य। हे काम! तुम विश्वव्यापी हो, महान् हो, मैं केवल तुम्हें नमस्कार ही कर सकता हूँ'-

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवाः आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम! नम इत् कृणोमि।।

(अथर्ववेद ९.२.१९)

ऐसी महिमा है काम की । फिर कामना की निंदा क्यों की जाती है ? मनु ने यह प्रश्न उठाया है। उत्तर यह है कि कामात्मता प्रशंसनीय नहीं है, किन्तु कामना के बिना भी कोई नहीं है। अतः कामना का परिसीमन करना चाहिए। वेदाधिगम की कामना करना तथा वेदोक्त कर्मों के अनुष्ठान करने की कामना करना हेय नहीं है-

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता।
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।।

(मनुस्मृति २.२)

तब ही तो '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः**'(यजुर्वेद ४०.२) की श्रुति का पालन संभव होगा।

ऋषि का द्रष्टृत्व

मन की कामना ही यज्ञ की जननी है। ऋषि जिस कामना से देवता की जिस पदार्थ का स्वामी बनने की इच्छा से स्तुति करता है, वही उस स्तुति रूप मंत्र का देवता हो जाता है— **यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मंत्रो भवति** (निरुक्त ७.१) निरुक्त की इस पंक्ति में दो शब्द विचारणीय हैं- ऋषि और देवता। ऋषि मंत्र का द्रष्टा है। आज की भाषा में कहें तो यह विज्ञान का Observer है। Observer यदि प्रकाश को Particle की तरह देखना चाहें तो वह Particle दिखाई देता है, Wave की तरह देखना चाहें तो

Wave की तरह दिखाई देता है। यह द्रष्टा की कामना का प्रताप है कि दृश्य को अपनी इच्छानुसार मोड़ सकता है— **'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति'** । ऋषि अर्थात् द्रष्टा अपनी कामना की अभिव्यक्ति मंत्र अर्थात् मनोबल से करता है। इच्छाएँ तो हममें भी अनन्त हैं, किन्तु हमारा मन इतना बलवान् नहीं है कि इन इच्छाओं को मंत्रबल में बदल सके। मंत्र मनन की शक्ति है। हमारा मन इतना चंचल है कि एक जगह टिककर मनन ही नहीं कर सकता। अभी हम एक इच्छा की पूर्ति का उपाय सोच रहे होते हैं कि दूसरी इच्छा आ टपकती है। इस प्रकार हमारी इच्छा शक्ति में नहीं बदल पाती । इच्छा में अनन्त शक्ति है किन्तु हम उस शक्ति का उपयोग न करके उस शक्ति को इधर-उधर बिखेर देते हैं। शास्त्रों में जितने चमत्कार बताए गए हैं, वे सब सच्चे हैं, संभव है, किन्तु योग द्वारा चित्त-वृत्ति का निरोध किए बिना वे केवल कपोल कल्पित प्रतीत होते हैं।

इच्छा-शक्ति की महिमा

वेद ने इच्छा को मन का वीर्य बताया है— **मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्**। (ऋग्वेद १०.१२९.४) इस वीर्य को रचनात्मक दिशा न देकर चंचलता-वश जहाँ तहाँ विकीर्ण करना जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है और इसी इच्छा-शक्ति का सदुपयोग जीवन की सफलता की कुञ्जी है। वेद ने मन की शक्ति का अत्यन्त उदात्त शब्दों में उल्लेख करते हुए कहा है कि मन में ऋक्, यजु, साम इसी भाँति पिरोए हुए हैं, जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में चक्र के अरे प्रतिष्ठित रहते हैं— **यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिताः रथनाभाविवाराः** (काठक संहिता १.३.४.९)। जिस मन में पूरी त्रयी विद्या समाहित है, उस मन को अनियंत्रित रूप में विचरण करने के लिए छोड़ देना ही आधुनिक जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है। इस मन को शिव संकल्प वाला बनाना है— **तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।**

इसलिए प्रत्येक यज्ञ के प्रारम्भ में संकल्प किया जाता है, दीक्षा ली जाती है। यदि यह संकल्प दृढ और शिव नहीं है तो यज्ञ सफल नहीं

होगा। यज्ञ की सफलता का मूल इच्छा-शक्ति की दृढ़ता है। यज्ञ ही क्यों, जीवन के किसी कार्य में सफलता के लिए दृढ इच्छा-शक्ति चाहिये— **विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमाना अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति।**

दीक्षाः सफलता के आठ सूत्र

यह कोई जादू नहीं है, यह पूरी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। उदाहरणतः किसी यज्ञ के पूर्व दीक्षार्थी यजमान से आठ चीजों की अपेक्षा की जाती है- आकूति, प्रयुक्त, मेघा, मन, दीक्षा, तप, सरस्वती, पूषा। ये आठ हमारे प्राणों को ऊर्ध्वगामी बनाते हैं, अतः औद्ग्रभण कहलाते हैं। आकूति संकल्प है। उस संकल्प की क्रियान्विति प्रयुक् है। संकल्प और प्रयुक् ही मित्र-वरुण अथवा क्रतुदक्ष हैं। मित्र ब्रह्मशक्ति है, वरुण क्षात्र तेज है। दोनों का समन्वय आवश्यक है। मेधा संकल्प की सतत स्मृति का नाम है। मेधा युक्त मन से दीक्षा हो सकती है। दीक्षा से प्राण सक्रिय हो जाते हैं। यही तप है, सरस्वती बुद्धि है। पूषा यज्ञोपयोगी द्रव्यों की उपलब्धि है। (शपतपथब्राह्मण ३.९.४.६-९) यह आठ जहाँ हैं, वहाँ ही यज्ञ सफल होता है। यह न तो अंधविश्वास है न अटपटी क्रिया, प्रत्युत पूर्णतः तर्कसङ्गत वैज्ञानिक तथ्य है। जीवन के किसी भी कर्म पर दृष्टिपात करें, ये आठ घटक होंगे तो सफलता मिलेगी। इस बात को ठीक स न समझा पाने के कारण हमारा सारा वैदिक कर्मकाण्ड नई पीढ़ी के उपहास का पात्र बनता जा रहा है।

यज्ञ और योग

मैत्रायणी संहिता ने स्पष्ट किया कि एकाग्रचित्त से ही यज्ञ सम्पन्न हो सकता है। (मैत्रायणी संहिता, ३.१.१) हम यज्ञ करते समय क्या अपना चित्त एकाग्र करते हैं? चित्त एकाग्र है नहीं तो यज्ञ असफल होगा ही। फिर हमारी श्रद्धा यज्ञ पर से उठ जाती है। अगर अंधे को रास्ते में खड़ा ठूंठ दिखाई न दे और वह उसे ठोकर खाकर गिर जाए तो इसमें ठूँठ का अपराध नहीं है, अंधे को अपनी नेत्र ज्योति प्राप्त करने का उपाय

सोचना चाहिए- **नायं स्थाणोरपराधः यदेनमंधो न पश्यति।** सामविधान ब्राह्मण कहता है कि मन प्रजापति है (सामविधान ब्राह्मण १.१.४) हम समझ रहे हैं कि प्रजापति कहीं ऊपर आकाश में बैठा है। श्रुति कह रही है कि प्रजा का पति तो मन है। क्या हम मन के इस महत्त्व को समझ रहे हैं? शतपथ ने स्पष्ट कर दिया चंचल चित्त के द्वारा तो कुछ भी करना संभव नहीं है- **न ह्ययुक्तेन मनसा किञ्चन शक्नोति कर्त्तुम्** (शतपथ ब्राह्मण ६.३.१.१४)। इतनी सीधी सादी समझदारी की बात जो Dogmaऔर Flimsy बता रहे हैं, उन्हें क्या कहा जाए?

मन कामनाओं का सरोवर है। (जैमिनीयोपनिषद ब्राह्मण १.१.८.३.३)। सब सृजन के मूल में कामना ही है। कुछ भी कर्म करने से पहले अपनी इच्छा सम्भालें। क्या हमारी इच्छा वास्तविक है, न्याय्य है, कल्याणकर है? यदि हमारी इच्छा ही दूषित है तो यज्ञ से क्या फलित होगा। बोये पेड़ बबूल को आम कहाँ ते खाय?

मनोबल के सम्मुख संसार के समस्त पदार्थ नगण्य हैं, मनोबल अपरिमित है, पदार्थ परिमित है (शतपथ ब्राह्मण १.४.४.७)। पदार्थ तो मन के पीछे चले आते हैं, जैसे गाय अपने बछड़े के पीछे चलती है। (जैमिनीय ब्राह्मण १.१९) मन चाहे और पदार्थ न मिले, यह हो ही नहीं सकता- जा को जा पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिले न कछु सन्देहू।। स्नेह सत्य होना चाहिए।

इच्छाशक्ति को महिमा : एक कथा

अंग्रेजी के Philosophy शब्द का अर्थ है- ज्ञान की तीव्र इच्छा। अरस्तू अपने शिष्यों को कहा करता था कि ज्ञान की इच्छा होगी तो ज्ञान तुम्हें अवश्य प्राप्त हो जाएगा। एक शिष्य कहता था कि ज्ञान की इच्छा तो मुझ में है, किन्तु ज्ञान प्राप्त नहीं हो रहा। अरस्तू उस शिष्य को एक दिन नदी पर ले गए और नदी में अपने साथ स्नान कराने लगा। अरस्तू बहुत बलशाली थे। उन्होंने अचानक अपने शिष्य का सिर पकड़कर

नदी के पानी में डुबा दिया। शिष्य का दम घुटने लगा, किन्त अरस्तू ने थोड़ी देर तक शिष्य को पानी से बाहर नहीं आने दिया। थोड़ी देर बाद जब शिष्य का सिर पानी से बाहर निकला तो शिष्य की जान में जान आई। अरस्तू ने पूछा कि जब तुम नदी के पानी में थे तो कौन-कौन सी इच्छा कर रहे थे। शिष्य बोला कि - 'इच्छा करने की फुरसत किसे थी। दम घट रहा था। बस एक ही इच्छा थी किकिसी प्रकार नदी के पानी से मुँह बाहर निकले।' अरस्तू ने कहा कि क्या ऐसी ही इच्छा ज्ञान प्राप्ति की भी है कि किसी और इच्छा करने का ख्याल ही न आए? शिष्य इच्छा का अर्थ समझ गया। एक इच्छा पर मन केन्द्रित हो, तो इच्छा फलवती होती है।

प्राण-वत्ता और यज्ञ

'सकल पदारथ है जग माँही। कर्महीन नर पावत नाहीं।' इच्छा के बाद इच्छानुकूल व्यापार चाहिए। व्यापार प्राण का धर्म है। प्राण को मन की इच्छा और अभीष्ट पदार्थ के बीच इन दोनों को बाँधने वाली रस्सी बताया गया है-**प्राण एव रज्जुः प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते** (शतपथ ब्राह्मण ३.१.४.२)। मन की कामना प्राणों को उद्वेलित कर देती है। प्राणों की गतिशीलता ही पदार्थ को जन्म देती है। इसलिए कहा जाता है कि प्राण ही यज्ञ का सम्पादन करता है- **प्राणैरु यज्ञस्तायते** (जैमिनीय ब्राह्मण २.४.३१)। **प्राणेन यज्ञः सन्ततः** (मैत्रायणी संहिता ४.६.२)।

कहा जा चुका है कि विज्ञान की भाषा में जो प्राण हैं, धर्म की भाषा में वे ही देव हैं। मन की मननशक्ति अर्थात् मंत्रशक्ति, प्राणशक्ति अर्थात् दवशक्ति को संचालित करती है- **एते वै देवा मनोजाता मनोयुजो यदिमे प्राणाः** (मैत्रायणी संहिता ३.६.९)। सब प्राणों का अधिपति मन है, मन में ही प्राण प्रतिष्ठित हैं- **मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः** (शतपथ ब्राह्मण १४.३.२.३)। अभिप्राय यह है कि मन सूक्ष्म है, प्राण स्थूल हैं। अतः मन ही प्राणों का नियन्ता है। जब प्राण

मन से जुड़ते हैं तो वे दक्ष और समर्थ हो जाते हैं- **इमे वै प्राणाः मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवः** (शपतपथ ब्राह्मण ३.२.२.१३)। मन और प्राण आपस में इतने घनिष्ठ रूप में जुड़े हैं कि मन को प्राणों का आधा भाग कहा गया है- **अर्धभाग्वै मनः प्राणानाम्** (षड्विंश ब्राह्मण १.५.५)। यज्ञ में मन की शक्ति जो मंत्ररूप में अभिव्यक्त होती है, वह प्राणों को समृद्ध बनाती है। अतः यज्ञ द्वारा प्राणों को समर्थ बनाने का आदेश दिया गया है- **प्राणो यज्ञेन कल्पताम्** (जैमिनीय ब्राह्मण २.७.७)।

यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

अध्यात्म की भाषा में जिसे प्राण कहा गया है, अधिदैव की भाषा में उसे देव कहा गया है। प्रतिदिन के अग्निहोत्र में अध्यात्म के प्राण, अधिदैव के देव तथा अधिभूत के लोकों में इन आहुतियों द्वारा समन्वय स्थापित किया जाता है-

ॐ भूरग्नये प्राणाय स्वाहा।
ॐ भुवर्वायवे ऽपानाय स्वाहा।
ॐ स्वरादित्याय व्यानाय स्वाहा।

अधिभूत का भूः, भुवः, स्वः, ही अधि-देव का अग्नि, वायु, आदित्य तथा अध्यात्म का प्राण, अपान और व्यान है।

❑❑❑

वैदिक-विज्ञान

[इस लेख में ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर वेद के अनेक पक्षों पर नया प्रकाश डाला गया है—सम्पादक]

तैत्तिरीय आरण्यक (८.५.१) में विज्ञान का यज्ञविज्ञान तथा कर्मयोग अर्थ दिया गया है- **विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च**। यज्ञविज्ञान के चमत्कारों का उल्लेख रामायण, महाभारत तथा पुराणों में सर्वत्र बिखरा पड़ा है। महाभारत में अनेक आश्चर्यजनक दिव्यास्त्रों का उल्लेख है जिनके प्रयोग में मुख्यत: मंत्रविज्ञान काम आता था। आज यज्ञविज्ञान का वह व्यावहारिक रूप लुप्त-प्राय है, अत: ये सब उल्लख मिथक ही प्रतीत होते हैं। सभ्यताओं के उत्थान पतन में अनेक विद्यायें लुप्त होती रहीं हैं। वेद-विज्ञान के साथ भी यही हुआ । किन्तु सौभाग्य से यज्ञविज्ञान के कुछ ऐसे सूत्र अभी शेष बच गये हैं जिनके आधार पर वेद-विज्ञान की तर्कसङ्गतता पूर्णत: सिद्ध होती है और जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि यज्ञविज्ञान के चमत्कारों का उल्लेख काल्पनिक नहीं है, अपितु वे चमत्कार प्राण-शक्ति अथवा देवशक्ति तथा आत्मशक्ति अथवा ब्रह्म-शक्ति के विनियोग से वस्तुत: घटित होते रहे होंगे। इस वैदिक विज्ञान की कुछ मूल स्थापनायें इस प्रकार हैं:—(१) चैतन्य की तथा प्राण की शक्ति भूतों की शक्ति से अधिक बलवती है। (२) दृश्य के परिवर्तन में द्रष्टा का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। (३)दृश्यमान अस्तित्व की विविधता के मूल में एकता रहती है। (४)अस्तित्व को समग्र दृष्टि से देखना चाहिये। (५) जीवन की सफलता का आधार संघर्ष नहीं, सहयोग है। (६) व्यष्टि तथा समष्टि के विकास के लिये जो जीवनशैली अपनायी जाये उसका आधार प्रकृति की कार्य-प्रणाली को बनाना चाहिये।

उपर्युक्त स्थापनायें आधुनिकतम विज्ञान की अवधारणाओं के कितने निकट हैं, इसे कोई भी विज्ञान का प्रबुद्ध पाठक समझ सकता है।

आज विज्ञान भूतों के विश्लेषण से आगे जाकर प्राण व चेतना की गवेषणा में लगा है। ज्यों-ज्यों प्राणशक्ति तथा चेतनाशक्ति की प्रभावशालिता उजागर होगी, आधुनिक विज्ञान न केवल वेद-विज्ञान के निकट आ जायेगा अपितु वेद-विज्ञान अनेक दिशाओं में आधुनिक विज्ञान का मार्गदर्शन भी करेगा। विश्वभर में योग की बढ़ती लोकप्रियता इसी बात का परोक्ष संकेत है। अब विज्ञान सत्य की खोज प्रयोगशाला में ही नहीं करेगा, योग के द्वारा अन्तर्जगत् में भी सत्य की खोज के द्वार खुलने वाले हैं।

ब्राह्मण-ग्रंथ : वेद-भाष्य

हमारे वक्तव्य का आधार वेदों पर किया गया प्राचीनतम भाष्य-साहित्य, ब्राह्मण-साहित्य है। ब्रह्म का अर्थ है वेद और वेद के भाष्य का नाम ब्राह्मण है। यह ब्राह्मण शब्द नपुंसकलिंग में 'ब्राह्मणम्' है जबकि प्रथम वर्ण का वाचक ब्राह्मण शब्द पुलिंग में 'ब्राह्मणः' है। अतः वर्णवाचक ब्राह्मण शब्द को तथा भाष्यवाचक ब्राह्मण शब्द को पृथक्-पृथक् ही समझना चाहिए और इस भ्रम में नहीं पडना चाहिए कि ब्राह्मण ग्रंथ ब्राह्मणवर्ण के लोगों द्वारा लिखे गए हैं। परम्परा तो यह है कि एक ब्राह्मण ग्रंथ—ऐतरेय ब्राह्मण—इतरा अर्थात् दासी अथवा शूद्रा के पुत्र ने लिखा था। इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। वेदों का व्यास करने वाले तथा महाभारत के अट्ठारह पर्वों के रचयिता वेदव्यास भी ब्राह्मण नहीं थे। वेद पर किसी जाति का एकाधिकार नहीं है। इसी प्रकार स्त्रियों को भी वेदाध्ययन से वंचित करना एक भ्रांति का ही हिस्सा है।

यम-स्मृति में कहा है कि पहले स्त्रियों को भी वेद-पाठ सोखने का अधिकार था- **पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।**

वेद शब्द का अर्थ

हमने ऊपर कहा कि वेद को ब्रह्म कहा गया है- (**वेदो ब्रह्म** जैमिनीय ब्राह्मणोपनिषद् ४.११.४.३) चारों वेदों के भाष्यकार सायण ने अपनी भाष्य भूमिका में बताया है कि वद शब्द विद् धातु से निकला है।

वस्तुतः संस्कृत में विद् धातु के एक अर्थ नहीं हैं, अपितु तीन अर्थ हैं- सत्ता, ज्ञान तथा प्राप्ति। ऐसा इसलिए है कि विद् धातु का तीन गणों में अलग-अलग पाठ है और प्रत्येक गण की विद् धातु के तीन रूप अलग-अलग हैं - **विद्यते, वेत्ति, विन्दते**। इन तीनों का क्रमशः अर्थ है सत्ता, ज्ञान और प्राप्ति। सत्ता सत् है, ज्ञान चित् और प्राप्ति आनन्द। अर्थात् वेद शब्द का अर्थ हो गया- सच्चिदानन्द। सच्चिदानन्द ही ब्रह्म है। इस प्रकार वेद ही ब्रह्म है।

वेद से जगदुत्पत्ति

यहाँ तत्काल यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि ब्रह्म से तो जगत् उत्पन्न होता है, तो क्या वेद से जगत् उत्पन्न होता है? उत्तर है कि वेद से ही वस्तुतः जगत् उत्पन्न होता है। यह हम नहीं कह रहे , स्वयं मनु कह रहे हैं-

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गंधश्च पञ्चमः।
वेदादेव प्रसूयन्त प्रसूति-गुण-कर्मतः।।

मनुस्मृति १२.१८।।

अर्थात् वेद से ही गुण तथा कर्मानुसार शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध उत्पन्न होते हैं। ये पाँचों **'शब्दगुणकमाकाशम्'** तथा **'गंधवती पृथ्वी'** आदि वैशेषिक दर्शन की परिभाषानुसार क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी नामक पाँचों महाभूतों के सूचक हैं। इन पाँचों महाभूतों से ही तो समस्त सृष्टि बनी है जिसे हम भौतिक कहते हैं। इस प्रकार वेद से ही सृष्टि बनी, अतः वेदों को ब्रह्म कहना उचित ही है।

शब्दराशिरूप वेद तथा तत्त्वरूप वेद

हम जानते हैं कि इतने मात्र से पाठकों की तुष्टि नहीं होगी। अतः थोड़ा प्रमाणपुरस्सर और विस्तार में जाना होगा। जिस प्रकार रघुवंश कालिदास के एक महाकाव्य का नाम भी है, किन्तु रघुवंश का अर्थ वह

वंश भी है जिसमें राजा रघु उत्पन्न हुए , उसी प्रकार वेद एक मंत्रराशि का नाम भी है जिसका साक्षात्कार ऋषियों ने किया किन्तु वेद उस तत्त्व का नाम भी है जिससे यह सृष्टि बनी। जिस प्रकार राजा के वंश में उत्पन्न दिलीप, अज, राम आदि का वर्णन करने के कारण कालिदास ने अपने महाकाव्य का नाम रघुवंश रखा, उसी प्रकार उस वेद-तत्त्व का वर्णन करने वाले मंत्र-समूह का नाम भी वेद हो गया। मंत्र-समूहात्मक वेद तो शब्दराशि रूप है किन्तु वेद-तत्त्व शब्दराशि नहीं अपितु तत्त्वरूप हैं यह वेदतत्त्व यज्ञ से उत्पन्न हुआ है- **तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचःसामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत** (ऋग्वेद १०.८.९) यहाँ कहा गया कि ऋक्, साम, छंद और यजु उस यज्ञ से उत्पन्न हुए जिस यज्ञ में सहस्रशीर्षा पुरुष की आहुति दी गई थी। निर्गुण ब्रह्म तो असीम है, सगुण ही ससीम है। ससीम होने के कारण ही उसे 'पुरि शेते' इस व्युत्पत्ति से पुरुष कह दिया गया। पुर् नाम रेखा अथवा सीमा का है- **लेखा हि पुरः** (शतपथ ब्राह्मण ६.३.३.२५) ससीम हो जाना ही सगुण हो जाना है। सगुण से ही सृष्टि होती है, निर्गुण तो निश्चेष्ट ही है।

त्रयी की उत्पत्ति

गुण तीन हैं- सत्व, रजस्, तमस्। इन तीन गुणों के आधार पर ही सगुण का वाचक वेद भी त्रयी कहलाया। पहले इस त्रयीविद्या पर विचार करें। फिर चतुर्थ वेद, अथर्ववेद, पर भी विचार करेंगे। किन्तु यह प्रारम्भ में ही कह देना आवश्यक है कि वेद चार ही हैं जिनमें अथर्ववेद भी शामिल है- **ऋग्वेदो यजुर्वेदःसामवेदो ब्रह्मवेदः** (गोपथ ब्राह्मण १.२.११) अथर्ववेद को त्रयी में क्यों नहीं गिना जाता इस पर अनुपद विचार करेंगे किन्तु उससे पूर्व त्रयी विद्या को लें।

रहस्यमयी भाषा में ब्राह्मणग्रंथ कहते हैं कि ऋग्वेद अग्नि से, यजुर्वेद वायु से तथा सामवेद सूर्य से उत्पन्न हुआ- अग्नेर्ऋग्वेदो, वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः (शतपथब्राह्मण ११.५.८.३) कोई संदेह न रह जाए इसलिए शाङ्खायन ब्राह्मण (६.१०) फिर इसी बात को दोहराता

है-- **सोऽग्नेरेवर्चोऽसृजत, वायोर्यजूंषि, आदित्यात्सामानि**। क्योंकि यह वक्तव्य कुछ विचित्र था कि अग्नि से ऋक्, वायु से यजुष् और सूर्य से साम उत्पन्न हुआ , अतः संदेह-निवृत्ति के लिए मनु को इसे फिर दोहराना पड़ा-

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध यर्थमृक्यजुः सामलक्षणम्।।

मनुस्मुति १२.१८।।

त्रयी की उत्पत्ति का रहस्य

अब इस रहस्य को समझें - अग्नि, वायु और आदित्य तीनों ही प्राण हैं- अग्निर्वै प्राणः (जैमिनीयोपनिषद् ४.११.११), प्राण उ वा वायुः (शतपथब्राह्मण ८.४.१.८) असावादित्यः प्राणः (तैत्तिरीय संहिता ५.२.५.४) ये तीनों मुख्य देव हैं- **अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानां हृदयानि** (शतपथब्राह्मण ९.१.१.२३) और तीनों ही प्राण हैं किन्तु वस्तुतः तो सारे देव प्राण हैं- देवः प्राण इति (शतपथब्राह्मण ७.५.१.२१)

आज का विज्ञान कहता है कि यह सृष्टि परमाणुओं से नहीं अपितु क्वान्टम से बनी है। क्वान्टम ऊर्जा समूह का नाम है (Packets of energy) उधर मनु कहते हैं कि सारा संसार देवताओं से बना है- **देवेभ्यश्च जगत्सर्वम्**। चाहे हम कहें कि देवों से सृष्टि बनी, चाहे कहें कि क्वान्टम से जगत् बना; एक वेदों की भाषा है, दूसरी आधुनिक विज्ञान की भाषा है।

देव अनेक क्यों ?

वेदों ने इस विषय को और स्पष्ट किया। यदि सभी देव प्राण हैं तो देव अनेक क्यों हैं ? देव प्राण हैं किन्तु सभी देव एक जैसे प्राण नही। अग्नि पार्थिव प्राण है, वायु आंतरिक्ष्य प्राण है तथा आदित्य दिव्य (द्यु-संबंधी) प्राण हैं। प्रतिदिन के अग्निहात्र में हम कहते हैं- भूरग्नये स्वाहा, भुवर्वायवे स्वाहा, स्वरादित्याय स्वाहा। अभिप्राय यह है कि भू (पृथ्वी) भुवः (अंतरिक्ष) एवं स्वः (द्युलोक) से क्रमशः अग्नि, वायु, तथा आदित्य

का संबंध है। अर्थात् प्राण विभक्त हैं और इन तीनों प्राणों का तीन वेदों से (त्रयी से) संबंध है और इन तीनों वेदों का तीन देवों से संबंध है तथा वेदों का पृथक्-पृथक् कार्य है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.२.८) कहता है कि अग्नि से उत्पन्न होने वाले ऋक् से समस्त मूर्त पदार्थ उत्पन्न हुए, वायु से उत्पन्न यजुष् से सारी गति बनी तथा सारे तेज आदित्यजन्य सामरूप हैं-

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्राह्मण हैव सृष्टम्।।

त्रयी से सृष्टि की उत्पत्ति

निष्कर्ष यह हुआ कि पार्थिव प्राण पदार्थ का मूर्त्त रूप बनाते हैं जिस रूप का हम स्पर्श कर सकते हैं, आंतरिक्ष्य प्राण पदार्थ में गति पैदा करते हैं और दिव्य प्राण उसमें तेज भरते हैं। इस प्रकार त्रयी से संसार के समस्त पदार्थ निर्मित हैं। अतः वेद को ब्रह्म अर्थात् जगत् का मूलकारण मानना उचित ही है। इसोलिए हमने प्रारम्भ में कहा था कि वेद ही ब्रह्म है जिससे समस्त जगत् उत्पन्न होता है। इस विषय को संक्षेप में तालिका में इस प्रकार निबद्ध किया जा सकता है-

त्रिलोकी	त्रिदेव	त्रयीवेद	जगत् के तीन घटक
भूः	अग्नि	ऋक्	मूर्त पदार्थ
भुवः	वायु	यजुष्	गतिमत्ता
स्वः	आदित्य	साम	तेज

जगत् के किसी भी प्रदार्थ के ये तीन घटक हैं- मूर्त अर्थात् स्पर्श योग्य पदार्थ, उस पदार्थ में होने वाली गति तथा उस पदार्थ का तेज जिसके कारण वह पदार्थ दृश्य बनता है । इन्हीं तीन घटकों को संक्षेप में अर्थ, क्रिया और ज्ञान कहा जाता है।

अर्थ स्थूल है, क्रिया सूक्ष्म है और ज्ञान सूक्ष्मतम है। यह स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम का क्रम हमें तीन लोक, तीन देव तथा वेदों में भी

दिखाई देता है। भूः, अग्नि और ऋक् स्थूल है; भुवः, वायु और यजुः सूक्ष्म है तथा स्वः, आदित्य और साम सूक्ष्मतम है। इन स्थूल, सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम को लौकिक भाषा में घन, तरल और विरल कहेंगे तथा वेद की भाषा में इन्हें ही क्रमशः ध्रुव, धरुण और धर्त्र कहा गया है- **ध्रुवमसि पृथिवी दृंह.. धरुणमस्यन्तरिक्षं दृंह.. धर्ममसि दिवं दृंह** (यजुर्वेद १.१७.१८)। इस घन, तरल, विरल की त्रिपुटी में समस्त विश्व समाहित है- **त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि** (शतपथ ब्रह्मण १०.४.२.२)।

संक्षेप में अभिप्राय यह है कि किसी तत्त्व को घन, तरल तथा विरल - इन तीनों भागों में बाँटा जा सकता है। यही एकता में अनेकता का रहस्य है। एक ही घनता, तरलता तथा विरलता के क्रम से अनेक हो जाता है- **एकं वा इदं विबभूव सर्वम्** (ऋग्वेद ८.५.८.२) यह संकोच से विस्तार अथवा घनता से तरलता की यात्रा से संभव है। कोई व्यक्ति त्रयी विद्या पर ही एक स्वतंत्र शोधप्रबंध लिख सकता है किन्तु हम इस विषय को फिलहाल यहीं विराम देकर, चतुर्थ वेद, अथर्ववेद पर आएँ।

त्रयी आग्नेय-अथर्ववेद सोम्य

जाबालोपनिषद् (२.४) कहता है कि समस्त जगत् दो तत्त्वों से बना है- अग्नि और सोम-**अग्निषोमात्मकं जगत्**। वेद की भाषा में अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है- **सोमोऽन्नमग्निरन्नादः** (काठसंकलन १०४) दर्शन की भाषा में अग्नि भोक्ता है, सोम भोग्य है। विज्ञान की भाषा में अग्नि उष्ण है, सोम शीत है। । जो अधिदैव में अग्नि और सोम है, अध्यात्म में वही प्राण और अपान है तथा अधिभूत में वही विस्तार और संकोच है। ध्यातव्य यह है कि ऋक्, यजुष् और साम की त्रयी नाम से प्रसिद्ध त्रिपुटी अग्नि से जुड़ी है और अथर्ववेद सोम से जुड़ा है। गोपथब्राह्मण (पूर्वार्चिक २.९) स्पष्ट शब्दों में कहता है कि अथर्ववेद सोमात्मक हैं- **सोमात्मको ह्ययं वेदः।** रहा प्रश्न ऋक्, यजुष्, और साम का, सो हम कह ही चुके हैं कि ऋक् का संबंध अग्नि से, यजुष् का वायु से और साम का संबंध आदित्य

से है- **सोऽग्नेरेवर्चोऽसृजत्, वायोर्यजूंषि, आदित्यात्सामानि** (शाङ्खायन ब्राह्मण ६.१०, अपि च शतपथ ब्राह्मण ११.५.८.३)। यास्काचार्य कहते हैं कि वायु और आदित्य भी अग्नि के ही तरल और विरल रूप हैं- **अप्येत उत्तरे ज्योतिषी अग्निरुच्येते** (निरुक्त ७.४) निष्कर्षतः ऋक्, यजुष् और साम की त्रयी आग्नेयी है और अथर्ववेद सोम्य है। इसीलिए जब भी जहाँ-जहाँ त्रयी का उल्लेख होता है वहाँ ऋक्, यजुष् तथा साम का ही नाम आता है, अथर्ववेद का नहीं। इसी को लेकर यह भ्रम फैल गया कि अथर्ववेद नया है, प्राचीन तो तीन वेद ही हैं।

अथर्ववेद- ब्रह्मा का विशिष्ट वेद

वेदों का यज्ञ से अविनाभाव संबंध प्रसिद्ध है। श्रौतयज्ञ में पुरोहित वर्ग चार भागों में बँटा होता है- होता ऋग्वेदी है, अध्वर्यु यजुर्वेदी, उद्गाता सामवेदी तथा ब्रह्मा जो सर्वोपरि है, वह वस्तुतः चारों वेदों का ज्ञाता होता है किन्तु अथर्ववेद उसका अपना विशेष वेद है। पुराणों में अथर्ववेद का महत्व बारम्बार घोषित किया गया है। विष्णु पुराण कहता है - **पौरोहित्यं शांतिकपौष्टिकादि राज्ञामथर्ववेदेन कारयेद् ब्रह्मत्वञ्च**। मत्स्यपुराण कहता है- **पुरोहितं तथाथर्वमन्त्रब्राह्मणपारगम्। मार्कण्डेयपुराण** का वचन है- **अभिषिक्तोऽथर्वमन्त्रैर्महीं भुङ्क्ते ससागराम्।** अथर्व- परिशिष्ट का कहना है, कि राजा को अथर्ववेदी का विशेष रूप से सम्मान करना चाहिए-

तस्माद्राजा विशेषेणाथर्वणं जितेन्द्रियम्।
दानसम्मानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्।।

(परिशिष्ट ४/६)

हमने ऊपर कहा कि वेद-विज्ञान की दृष्टि से त्रयी यदि आग्नेय है तो अथर्ववेद सोम्य है। यज्ञ के लिए जितना महत्व अग्नि का है उतना ही महत्व सोम का भी है। शरीर की वैश्वानर अग्नि में स्वाभाविक रूप से

चलने वाले यज्ञ में यदि जठराग्नि मंद हो जाए तो यज्ञ में विघ्न पड़ जाता है किन्तु यदि जठराग्नि को अन्नरूपी सोम न मिले तो भी यज्ञ नहीं चल पाता। अतः यदि यज्ञ में अग्नि और सोम दोनों आवश्यक है तो आग्नेय त्रयी के समान सोम्य अथर्ववेद भी उतना ही आवश्यक है। यदि हम किसी श्रौत यज्ञ में जाएँ तो पाएँगे कि त्रयी से सम्बद्ध हाता, अध्वर्यु और उद्गाता तो अपने वेद का पाठ करते हैं किन्तु ब्रह्मा अथर्ववेद का पाठ करता हुआ नहीं मिलेगा। इसका भी कारण है। यज्ञ का संस्कार दो प्रकार से होता है- वाणी और मन से। त्रयी आग्नेय है और अग्नि वाणी है- वागेवाग्निः (शतपथ ब्राह्मण ३.२.२.१३) और अन्न अर्थात् सोम मन है- **अन्नमयं सौम्य मनः** (छान्दोग्योपनिषद् ६/५/१-२-३-४)अतः आग्नेय वेद-वाणी द्वारा यज्ञ कर संस्कार करते हैं और सोम्य वेद मन द्वारा यज्ञ का संस्कार करता है अतः ब्रह्मा यज्ञ में मन द्वारा यज्ञ का संस्कार करता है; वह वाणी का प्रयोग प्रायः नहीं करता- **वाचा च हि मनसा च यज्ञोऽवर्तत। तदै् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति। मनसैव ब्रह्मा संस्करोति** (ऐतरेय ब्राह्मण ५/३३) इन सब बातों पर शास्त्रीय विचार न करके कुछ तथाकथित विद्वानों ने यह प्रचार कर दिया कि यज्ञ में पहले त्रयी का ही प्रयोग होता था किन्तु बाद में अथर्ववेद का समावेश तो हो गया तथापि उसके उच्चारण का समावेश नहीं हो पाया।

अथर्ववेद प्रतिष्ठा

केवल पुरोहितों के प्रसंग में अथर्ववेद का उल्लेख हो ऐसा नहीं है। एक पुरुष के रूप में वेदों की कल्पना करते समय अथर्ववेद को प्रतिष्ठा बताया गया है। यजुष् सिर है, तो ऋक् दक्षिण पक्ष है एवं साम उत्तर पक्ष है, इन वेदों का आदेश ही वेद-पुरुष की आत्मा है और अथर्ववेद उसकी प्रतिष्ठा है- **तस्य यजुरेव शिरः ऋग् दक्षिणः पक्षः, सामोत्तरः पक्षः आदेश आत्मा, अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा**। (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्राह्मण ३)।

वस्तुतः वेद-विज्ञान सुव्यवस्थित है कि जो वर्गीकरण एक जगह लागू होता है वही वर्गीकरण सर्वत्र लागू हो जाता है। ऐसे वाक्यों को अनुगम वाक्य कहा जाता है। उदाहरणतः ऊपर एक वाक्य आया है कि त्रयी में ही सारे भूत हैं- **त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि** (शतपथ ब्राह्मण १०/४/२/२२) इस अनुगम वाक्य के आधार पर सर्वत्र त्रिक बनाए जा सकते हैं। अग्नि, वायु, आदित्य- ये तीन ही देव है, भूः, भुवः, स्वः- तीन ही लोक हैं। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीयाग्नि- ये तीन ही अग्नियाँ है, प्राण, अपान और व्यान- ये तीन ही प्राण हैं.. इत्यादि। इसी प्रकार एक दूसरा अनुगम वाक्य है- **चतुष्ट्यां वा इदं सर्वम्**। यह सब कुछ चतुष्क रूप है। चार ही आश्रम हैं, चार ही वर्ण हैं, चार ही पुरुषार्थ हैं, चार ही वेद हैं.. इत्यादि। इसी अनुगम वाक्यों में तीन लोकों के साथ एक चौथा लोक-आपो लोक-भी आता है- **अस्ति वै चतुर्थो लोकः, आपो लोकः** (कौषीतकि ब्राह्मण १८/२)। अथर्ववेद का संबंध इसी चतुर्थ लोक-आपो लोक - से है- **अथर्वणामापः स्थानम्** (गोपथ ब्राह्मण १.२९)। यह आप ही सोम है- **आपः सोम** (शतपथ ब्राह्मण ९.१.१.२२)। अभिप्राय यह हुआ कि जब हम त्रिक के वर्गीकरण की बात करते हैं तो प्रसिद्ध त्रिलोकी से त्रयी को जोड़ते हैं-**ऋचां पृथिवी स्थानम्, यजुषामन्तरिक्षः स्थानम्, साम्नां द्यौः स्थानम्।** किन्तु जब हम चतुष्क के वर्गीकरण की बात करते हैं तो '**अथर्वणामापः स्थानम्**' भी कहते हैं।

कहने का अभिप्राय यह है कि वेद-विज्ञान का सारा ताना-बाना इतना सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक तथा परस्पर सुसम्बद्ध है कि उसके जानकार के मन में तो कभी यह बात स्वप्न में भी नहीं आ सकती कि अथर्ववेद शेष तीन वेदों से किसी प्रकार भी किंवा न्यून अथवा नवीन है। किन्तु कठिनाई यह है कि वैदिक साहित्य का इतिहास लिखने वाले अथर्ववेद पर सैकड़ों पृष्ठ लिख देंगे किन्तु ब्राह्मण ग्रंथों में ऋक्, यजुष्, साम और अथर्ववेद तत्त्व पर जो विपुल प्रकाश डाला गया है, उस ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। उन्हें अथर्ववेद जादू-टोनों का ग्रंथ दिखता है।

❑❑❑

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में वर्णित सृष्टि विद्या

[सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध वादों की चर्चा का निष्कर्ष इस लेख में दिया गया है— सम्पादक]

पण्डित मधुसूदन ओझा का मनुष्य-जाति की संस्कृति के इतिहास के सम्बन्ध में अपना विशिष्ट मत है। वे मानते हैं कि आदियुग वन्ययुग था। उसमें सभ्यता- संस्कृति का कोई विशेष विकास नहीं हुआ था। द्वितीय युग विज्ञानयुग था। इस युग के विशिष्ट विद्वान् जिस युग में हुए उसे मणिजायुग कहते हैं। साध्यदेवों ने विज्ञान में बहुत उन्नति की। इसका सङ्केत उपनिषद् के उस वाक्य में मिलता है जिसमें कहा गया हैं कि त्रेतायुग में यज्ञ का बहुत विस्तार हुआ - **मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।** (मुण्डकोपनिषद्, २१) पण्डित ओझा यज्ञ की प्रक्रिया को विशुद्ध विज्ञान मानते हैं, जिस प्रक्रिया के अन्तर्गत एक निश्चित परिमाण में, निश्चित विधि से, निश्चित पदार्थों को मिलाने से मन चाहे नवीन पदार्थ उत्पन्न किये जा सकते हैं । मणिजायुग के साध्य विद्वानों ने इस विद्या में बहुत उन्नति कर ली थी और इस यज्ञ विद्या के बल पर ही वे सष्टि की रचना का रहस्य खोलने का दावा करते थे।

इन वैज्ञानिकों में भी अनेक सम्प्रदाय थे। पण्डित ओझा के अनुसार इन्हीं सम्प्रदायों का सङ्केत ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में मिलता है। ये वाद निम्नलिखित हैं-

१. सदसद्वाद, २. रजोवाद, ३. व्योमवाद, ४. अपरवाद, ५. आवरणवाद, ६. अम्भोवाद, ७. अमृतमृत्युवाद, ८. अहोरात्रवाद, ९. देववाद, १०. संशयवाद।

इन्हीं पर पण्डित ओझा ने दशवादरहस्य लिखा तथा प्रत्येक वाद पर पृथक्-पृथक् भी ग्रन्थ लिखे जिनमें अमृतमृत्युवाद तथा देववाद को छोड़कर शष सभी वादों पर उनके ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री ने बारह वादों का उल्लेख किया है जिनमें ग्यारह वाद पूर्वपक्ष के रूप में है तथा बारहवां वाद सिद्धान्तवाद है जिसका उल्लेख दशवादरहस्य में तो है ही, इसके अतिरिक्त ब्रह्म-सिद्धान्त नामक पृथक् ग्रन्थ में भी इसका विस्तृत विवरण है। पहले ग्यारह वाद साध्ययुग में बने, सिद्धान्तवाद की प्रतिष्ठा देवयुग में ब्रह्मा ने की। यह देवयुग ही वर्तमान में उपलब्ध वेद संहिताओं के निर्माण का समय है।

दशवादों की स्थिति-

महत्वपूर्ण बात यह है कि देवयुग में ब्रह्मा ने जिस ब्रह्मवाद की स्थापना की उसमें ब्रह्मवाद सिद्धान्त आने के पहले प्रचलित दशवादों का निराकरण नहीं किया, प्रत्युत समावेश किया । सिद्धान्त पक्ष यह है कि दशवाद नितान्त निर्मूल नहीं है: यदि इन्हें ब्रह्मवाद से जोड़कर देखा जाये तो ये सभी वाद सृष्टि के रहस्य को उद्घाटित करने में सहायक होते हैं, किन्तु वे ब्रह्मवाद-निरपेक्ष रहकर अपूर्ण हैं। यही कारण है कि वैदिक वाङ्.मय में इन सभी वादों का समर्थन भी मिल जायेगा और खण्डन भी। इस विरोधा-भास का परिहार इस प्रकार समझना चाहिये कि जहाँ इन वादों का समर्थन है वहाँ ये वाद ब्रह्मवाद से जुड़े हुए देखे गये हैं तथा जहाँ इन वादों का खण्डन है वहाँ यह खण्डन इन वादों को ब्रह्मवाद-निरपेक्ष मानकर किया गया है।

वैदिक वाङ्.मय में इन वादों का जो विस्तृत विवेचन है उसी का विश्लेषण तथा उपबृंहण पण्डित मधुसूदन ओझा ने अपने दशवाद सम्बन्धी साहित्य में किया है।

सदसद्वादादि दशवाद तथा ब्रह्मवाद की विभाजक रेखा–

सदसद्वादादि वाद तथा सिद्धान्त पक्ष के बीच एक ऐसी विभाजक रेखा है जिसके आधार पर हम यह निर्णय ले सकते हैं कि क्यों ब्रह्मवाद के बिना ये सभी वाद अपूर्ण हैं।

पहले तो हमें यह समझ लेना चाहिये कि इन सभी वादों में सृष्टि के मूल कारण का अनुसन्धान किया गया है। दृश्यमान सृष्टि के सभी पदार्थ दिक्देशकालावच्छिन्न हैं। यदि हम किसी ऐसे पदार्थ को सृष्टि का मूल कारण मानें जो दिक्देशकाल से अवच्छिन्न हो तो वह पदार्थ भी सृष्टि का ही अंग हो जायेगा और उस पदार्थ को सृष्टि का कारण मानना ऐसा ही होगा जैसे कोई कहे कि ''क'' का कारण ''क'' का हो एक अंश है। यह स्पष्ट है कि यह दृष्टि हमारी जिज्ञासा को पूरा नहीं कर सकती । कारण को कार्य के अव्यवहित पूर्व में रहना चाहिये, जबकि अवयव अवयवी का सहवर्ती होता है; वह पूर्ववर्ती नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में अवयव को अवयवी का कारण नहीं माना जा सकता। जो कुछ दिक्देशकाल से अवच्छिन्न है वह तो कार्य जगत् वर्तमान में प्रत्यक्ष है ही, अब यदि हम उसका मूल कारण दिक्–देश–कालावच्छिन्न ही किसी पदार्थ को मान लेते हैं, तो हमारा प्रश्न यह होगा कि उस अन्य पदार्थ का कारण क्या है ? और यदि उसका कारण भी कोई दिक्देशकालावच्छिन्न पदार्थान्तर ही हुआ तो उसके कारण की जिज्ञासा बनी रहेगी और इस प्रकार अनवस्था दोष आ जायेगा। इस अनवस्था दोष से बचने का एक ही उपाय है कि हम ऐसे तत्व को सृष्टिका कारण मानें जो दिग्देशकाल से अवच्छिन्न न हो । ऐसा दिग्देशकाल से अनवच्छिन्न जो तत्व है वही ब्रह्म है, वही जगत् का मूल कारण है। एक बार इस तथ्य को समझ लेने के बाद सत्, असत्, रज इत्यादि दिक्–देश–काल अवच्छिन्न पदार्थ भी अवान्तर कारण के रूप में सृष्टि की प्रक्रिया को समझने में तो सहायक हो सकते हैं किन्तु वे सृष्टि के अवान्तर कारण ही हैं, मूल कारण नहीं ।

दशवादों का सर्वेक्षण-

हम दशवादों का जो सर्वेक्षण कर रहे हैं उसका आधार पण्डित मधुसूदन ओझा के प्रधान शिष्य पण्डित मोतीलालजी शास्त्री द्वारा गीता विज्ञानभाष्यभूमिका के ब्रह्मकर्म परीक्षा खण्ड में दिया गया विवरण है। यह ग्रन्थ अभी बाजार में उपलब्ध नहीं है। पण्डित मोतीलालजी शास्त्री के परिवार वालों ने इसकी प्रति मुझे कृपा करके उपलब्ध करा दी है। इन दसों वादों का एक संक्षिप्त परिचय स्वयं पण्डित मधुसूदन ओझा ने दशवाद-रहस्य नाम के ग्रन्थ में अलग से भी दिया है। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने भी इन वादों का परिचय अपने ग्रन्थ ''वैदिक लेक्चर्स'' के ग्यारहवें लेक्चर में तथा रजोवाद की भूमिका में दिया है। इन्हीं सब विद्वानों के विवेचन को आधार बनाकर हम दस वादों का परिचय दे रहे हैं।

सदसद्वाद-

नासदीय सूक्त में सर्वप्रथम सदसद्वाद का संकेत है। इस वाद के तीन भेद हो जाते हैं- सद्वाद, असद्वाद और सदसद्वाद। सद्वाद का मत है कि यह विश्व क्योंकि सत्रूप हैं इसलिए इसका कारण भी सत् होना चाहिये क्योंकि असत् पदार्थ से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता। यह एक प्रकार से सांख्यदर्शन के सत्कारणतावाद की पूर्व-भूमि है। सत् से ही सत् उत्पन्न होता है - सतो अभ्या सज्जान (तै.सं.४/६/२/३) इस वाद के समर्थन में पण्डित मोतीलालजी शास्त्री ने जो अन्य प्रमाण दिये हैं वे इस प्रकार हैं - ऋक् सं.१/९६/७, ऋक् सं. ८/१०१/११, ९/३१/६/८६/५, १०/५३/११, तै. उप. २/६ ।

दूसरा मत यह था कि यह विश्व क्षणिक है इसमें क्रिया ही है, कोई शाश्वत पदार्थ नहीं है। इसलिए यह सृष्टि असत् रूप है और असत् का कारण असत् ही हो सकता है। सद्वाद ब्राह्मणवाद का आधार बना तो असद्वाद श्रमणवाद का आधार बना। इस वाद के सङ्केत ये हैं — ऋक् संहिता ९/८९/६, १०/७२/३, तै. ब्रा. २/२/९, शत. ब्रा ६/१/१, तै. उप. २/७।

तीसरा मत सदसद्वाद है यह सृष्टि संसृष्टि है अर्थात् विजातीय तत्वों से मिलकर बनी है अतः इसके मूल में भी कारण एक नहीं, दो होने चाहिए। सृष्टि में परिवर्तन भी दिखाई देता है और स्थिरता भी। इसलिए इस सृष्टि का कारण असत् भी है और सत् भी। यजुर्वेद कहता है–**सतश्च योनिमसतश्च विवः** (यजु.सं १३/३), शत. ब्रा. १०/४/१ में भी इस वाद का संकेत है।

रजोवाद

रजोवाद के अनुसार सृष्टि व्यापारों का संघात है। इसलिए इसके मूल में प्रकृति का ऐसा ही गुण होना चाहिये जो क्रियाशील हो। सत्वगुण में ज्ञान है, तमोगुण जड है; क्रियाशीलता केवल रजोगुण में है। अतः रजस् ही सृष्टि का मूल हो सकता है। इस मत के समर्थक अनेक वाक्य वेदों में है – **यः पार्थिवानि विममे स एतशो रजांसि देवः सविता महित्वना** (ऋक् सं. ५/८१/३) अन्य प्रमाण हैं– ऋक् सं. १/१६४/६, १/३५/२, १/३५/९, १/१६४/१४, १०/३२/२, शत. ब्रा. ६/३/१८ में भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन है।

व्योमवाद

व्योमवाद के अनुसार पञ्चभूतों में सूक्ष्मतम आकाश ही सृष्टि का मूल है। प्रसिद्ध है कि कारण सूक्ष्म होता है, कार्य स्थूल होता है। सृष्टि पंचभूतों से बनी है। उनमें आकाश ही सूक्ष्मतम है। अतः आकाश ही सृष्टि का कारण होना चाहिये–**परमे व्योमन् आधारयद्रोदसी सुदंसाः** (ऋक् सं. १/६२/७) अन्य प्रमाण है–ऋक् सं. १/१४३/२, १/१६४/३९, ६/८/२, १०/१२९/७ ।

अपरवाद–

पर का अर्थ है आत्मा। अपर का अर्थ है प्रकृति। भौतिक जगत् प्राकृतिक है इसका उद्भव प्रकृति से ही होना चाहिये। प्रकृति का दूसरा

नाम स्वभाव भी है। इसलिए प्रकृति या स्वभाव को सृष्टि का कारण मानने वाले सभी अपरवादी हैं। यहाँ केवल इतना कहना पर्याप्त है कि यह वाद भूतों का कारण भूतों को ही मानता है, किसी पर को नहीं। इसलिए इसे अपरवाद कहा जाता है। इस मत का सङ्केत वैदिक साहित्य में है – **कृणोति पूर्वमपरं शचीभिः** (ऋक् सं. ६/४७/१५) अन्य प्रमाण हैं – ऋक् सं १०/१८/५, ८/२७/१४ कारण और कार्य में भेद नहीं है इस बात को शतपथ ब्राह्मण ने बहुत अच्छे ढंग से समझाया है। **उभयं हैतद् भवति-पिता च पुत्रश्च। प्रजापतिश्चाग्निश्च, अग्निश्च प्रजापतिश्च, प्रजापतिश्च देवाश्च, देवाश्च प्रजापतिश्च।** (शत.ब्रा. ६१/२/२७)।

आवरणवाद-

आवरण का अर्थ ह पदार्थ का बाह्यरूप, जितने पदार्थ हैं वे कोई न कोई आकार धारण किये हुए हैं। सजातीय कारण से ही सजातीय कार्य उत्पन्न होता है। अतः इस आवरण रूप सृष्टि का आवरण ही कारण होना चाहिये। वेद में इस आवरण को वयुन कहा गया है। इसे ही छन्द भी कहते है। वयुन आवरण है, उस आवरण से ढका हुआ पदार्थ वयोनाध है तथा उस पदार्थ में रहने वाला प्राण वय है। इसलिए वय का अर्थ आयु होता है। प्रत्येक पदार्थ का छन्द या आकार प्राण के कारण होता है। यह प्राण ही वयोनाध है। पदार्थ तमोगुण प्रधान है। इसीलिए इस मत के मानने वाले तमोगुण को ही सृष्टि का मूल कारण मानते हैं-**तम आसीत्तमसा गूढमग्रे** (ऋक् सं. १०/१२९/३) अन्य प्रमाण हैं-ऋक् सं १/१४३/६, १/५५/८, २/८७/४, ९/७४/२ । मनु ने इस सिद्धान्त का इन शब्दों में परिचय दिया है – **आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः ।।** (मनुः१/५१)।

अम्भोवाद-

यदि हम अपने शरीर को देखें तो भी, और पृथ्वी को देखें तो भी, जल की मात्रा सर्वाधिक है। इसलिए सृष्टि का मूल तत्व जल है। इस

सिद्धान्त का शास्त्रों में बहुत विस्तार है। प्रमाण के रूप में अनेक पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं-**प्र सु व आपा**--- (ऋक् सं. १०/७५/१) अन्य प्रमाण हैं - ऋक् सं. ६/५०/७, १/१००/१, शत. ब्रा. ११/१/६/१, १/१/१/१४, ६/१/१/८, १०/५/४/१५, १०/५/४/१४, ४/५/२/१४।

अमृत-मृत्युवाद-

सत् भाव है असत् अभाव है, किन्तु अमृत और मृत्यु दोनों ही भाव रूप हैं। प्रत्येक पदार्थ में जो परिवर्तन हो रहा है वह मृत्यु है, और परिवर्तन के बीच जो निरन्तरता है वह अमृत है। दोनों ही भाव एक साथ रहते हैं-**अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतामहितम्** (शत. ब्रा. १०/५/४) इसलिए अमृत और मृत्यु दोनों को ही सृष्टि का कारण मानना चाहिये- **निवशयन्नमृतं मर्त्यञ्च** (यजु सं ३४/३१) अन्य प्रमाण हैं -ऋक् सं. १/८३/५/ ३/१/१४ शत. ब्रा. १०/१/४/१।

अहोरात्रवाद-

दिन और रात प्रतीक हैं दो तत्वों के। इन तत्वों को तेज और स्नेह कह सकते हैं। तेज शुष्क है, स्नेह आर्द्र है। तेज ही अहः है, स्नेह रात्रि है। तेज को अन्नाद अथवा अग्नि भी कह सकते हैं, स्नेह को अन्न अथवा सोम भी कह सकते हैं। इन दोनों के सम्मिश्रण से सृष्टि उत्पन्न हुई है। दोनों का सम्मिश्रण यज्ञ कहलाता है, यही सृष्टि का मूल है। तेज को अङ्गिरा और स्नेह को भृगु कहते हैं। दिन में सूर्य रहता है वह अग्नि रूप है, रात्रि में चन्द्रमा रहता है वह सोम रूप है। इन दो से ही समस्त संसार बना है- **अग्नीषोमात्मकं जगत्** (बृहज्जाबालोपनिषत् २/४) वेद का प्रमाण है- **विषुरूपे अहनी संचरेते** (ऋक् सं. १/१२३/७)ऋक् सं. १/१/१८५/१ में भी यही बात दोहराई गई है शतपथ ब्राह्मण (१/६/३/२३) इसे और भी स्पष्ट शब्दों में कहता है-**द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति. शुष्कं चैवार्द्रञ्च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदार्द्र तत्सौम्यम्।**

देववाद-

देव का अर्थ है प्राण। यह सृष्टि असंख्य भावों से युक्त है। अत: इसके कारण असंख्य ही होने चाहिए। प्राण अथवा देव असङ्ख्य हैं इसलिए वे ही इस सृष्टि के कारण हैं- **देवामिद्वो महत्तदा वृणीमहे वयम्** (ऋक् सं. ८/८३)।

संशयवाद-

इन अनेकानेक प्रकार के वादों के विवाद में सृष्टि का मूल कारण पता नहीं चलता इसलिए वैदिक ऋषि संशय की भाषा में बोल उठता है- **न तं विदाथ य इमा जजान** (ऋक् सं. १०/८२/७) स्वयं नासदीय सूक्त के छठें और सातवें मन्त्र में इसी संशयवाद की चर्चा है।

विज्ञानेतिवृत्तिवाद-

इन वादों के अतिरिक्त पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने एक अन्य वाद की भी चर्चा की है जिसे उन्होंने विज्ञानेतिवृत्तवाद कहा है। इस वाद के मानने वालों का कहना था कि विज्ञान के बल पर हम कुछ भी पदार्थ बना सकते हैं। यज्ञ-विज्ञान के आधार पर ये लोग कुछ भी पदार्थ बना लेते थे और इसलिए एक प्रकार से अपने को ही सृष्टि का कर्ता मानते थे। इनकी गर्वोक्ति थी-**अहं ता विश्वा चकरम्** (ऋक् सं. ४/४२/६) इस मत के समर्थक वाक्य भी ऋक् वेद में ही खूब मिलते हैं-ऋक् सं. १०/४९/१, १०/४९/९, १०/४८/२, १०/१८४/३, १०/४८/१, ४/२६/१।

ब्रह्मवाद: सिद्धान्त पक्ष-

इन ग्यारह वादों की अपूर्णता के संदर्भ में हम प्रारम्भ में कह चुके हैं। ये वाद तभी पूर्ण होते हैं, जब हम बारहवें वाद ब्रह्मवाद को स्वीकार करें। ब्रह्मवाद का विस्तृत विवेचन पं. मधुसूदन ओझा ने अपने ब्रह्म-सिद्धान्त नामक ग्रन्थ में किया है जिसको विस्तृत टीका महामहोपाध्याय

पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने संस्कृत में लिखी थी। इसका हिन्दी अनुवाद भी गिरिधर शर्मा जी के पुत्र पण्डित देवीदत्त चतुर्वेदी ने कर दिया है और राजस्थान पत्रिका ने उसे प्रकाशित भी कर दिया है। पण्डित ओझा ब्रह्म तत्व को विश्वोत्तीर्ण भी मानते थे और विश्वव्यापक भी। उसके चार पाद हैं- परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर । परात्पर का सृष्टि में कोई योगदान नहीं। अव्यय सृष्टि का साक्षी है, अक्षर निमित्त कारण है और क्षर उपादान कारण है। ब्रह्म की इस व्यापक अवधारणा में उपर्युक्त सभी वादों का समावेश हो जाता है। प्रकृति अथवा प्रकृति के गुण क्षर ब्रह्म में आ जाते है। प्राण तत्व अथवा देव तत्व अक्षर ब्रह्म में आ जाता है। और अव्यय ब्रह्म वह तत्त्व है जिसका समावेश किये बिना उपर्युक्त सभी वाद अधूरे रह जाते हैं। नासदीय सूक्त में इस अव्यय तत्व की चर्चा स्पष्ट शब्दों में की गई है।

अपरवाद का अर्थ-

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, श्रुति मं अपरवाद के समर्थक अनेक वाक्य हैं। अपर का अर्थ है जो पर नहीं है अर्थात् स्व अथवा स्वयम् । सृष्टि के उद्गम खोजने वालों में एक मत था कि सृष्टि का मूल किसी पर में नहीं बल्कि स्वयं सृष्टि में ही है। ओझा जी ने अपरवाद का वर्णन स्वतन्त्र रूप से इसी नाम के ग्रन्थ में करने के अतिरिक्त दशवाद रहस्य नामक ग्रन्थ में भी इस वाद पर तीन श्लोक लिखे हैं तथा वागम्भृणीसूक्त की ५ ऋचाएँ उद्धृत की हैं। अपरवाद ग्रन्थ में (१)लोकायतवाद, (२) परिणामवाद, (३) यदृच्छावाद, (४) नियतिवाद तथा (५) प्रकृतिवाद शीर्षकों के अन्तर्गत अपरवाद का वर्णन है (अपरवाद पृ. २ श्लोक ६) । अपरवाद का इस ग्रन्थ में एक दूसरा नाम स्वभाववाद भी दिया है। इन सभी वादों के मूल में एक बात अवश्य है कि ये सभी सृष्टि का मूल सृष्टि

के बाहर के किसी तत्व को न मानकर सृष्टि के भोतर ही सृष्टि का मूल खोजते है।

लोकायत मत –

लोकायत मत है कि ये सृष्टि वायु, तेज, जल तथा पृथ्वी से बनी दृष्टिगोचर होती है। अत: ये भूत इसके कारण हैं। इन्हीं से चेतना उत्पन्न हो जाती है मरणान्तर कुछ शेष नहीं रहता (तदेव पृ. १ श्लोक ३)। बृहस्पति तथा उनके शिष्य चार्वाक इस मत के समर्थक थे । दशवादरहस्य ग्रन्थ में वाक् सूक्त के उद्धृत करने का प्रायोजन इसी लोकायत मत का समर्थन है क्योंकि वेद में वाक् भूत का पर्यायवाची है।

परिणामवाद–

भौतिक पदार्थों में स्वभावत: भिन्न-भिन्न परिणाम होते हैं जिनके कारण यह विविध प्रकार की सृष्टि बन जाती है (तदेव पृ. २ श्लोक ३)। पराशर का मत था कि इन विविध परिणामों का स्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं । वह पुरुषार्थवाद का विरोधी था (तदेव पृ. ३ श्लोक ५)।

यदृच्छावाद–

यदृच्छावाद के अनुसार सब कुछ आकस्मिक है। उसका कारण ढूँढना व्यर्थ है। दो चीजों को बारम्बार साथ-साथ देखने से कार्यकारण की कल्पना हम कर लेते हैं। मिट्टी— से पानी बन जाता है, पानी से मिट्टी— ऐसी स्थिति में किसे कारण कहें किसे कार्य ? सुख-दु:ख अकारण काकतालीय न्याय से प्राप्त होते रहते हैं। बादलों का घिर आना, आँधी का चलना आदि सभी कुछ तो अकस्मात् जब चाहे जहाँ चाहे अकारण ही होता रहता है। फिर कारण की खोज का क्या अर्थ है ? (तदेव पृ. ४ श्लोक ५)

नियतिवाद-

नियतिवादी पूरण काश्यप आदि का कहना है कि यदृच्छावाद नहीं है। तिल आदि नियत पदार्थों से ही तेल आदि नियत पदार्थों की उत्पत्ति इस बात की सूचक है कि सब कुछ नियत है। सृष्टि का कारण कुछ भी हो वह नियति के अनुसार ही कार्य को जन्म दे सकता है, अतः नियति हो मुख्य है (तदेव पृ. ५ श्लोक ६)।

प्रकृतिवाद-

आसुरि तथा पंचशिख प्रकृतिवादी सांख्यमतानुयायी हैं। उनके अनुसार पुरुष तथा गुणों का अयुतसिद्ध सम्बन्ध है। कर्तृत्व गुण विशिष्ट पुरुष में होता है। वस्तुतः कर्तृत्व प्रकृति में ही है, पुरुष में नहीं। (तदेव पृ. ९ श्लोक ६) अहंकारवश पुरुष अपने में कर्तृत्व मान लेता है। गुणों में सम्मिश्रण करता है, स्वभाव परिणमन करता है, तथा कर्म सृष्टि करता है। ये काल, स्वभाव तथा कर्म गुण के हैं, पुरुष के नहीं। इन गुणों में सत्त्व पुरुष के निकटतम है। सत्त्वगुण स्थिति का हेतु है रजस् प्रवृति का तथा तमस् निवृत्ति का (तदेव पृ. ७ श्लोक १०)। विषमता के प्राप्त होने पर ये ही गुण महत् कहलाने लगते हैं। महत् से अहंकार उत्पन्न होता है, जिसके तीन भाग हैं- द्रव्य, क्रिया तथा ज्ञान। द्रव्य पदार्थ है, क्रिया बल तथा ज्ञान प्रज्ञा। सत्त्व द्रष्टा है, तमस् दृश्य। रजस् इन दोनों को जोड़ने वाला सूत्र है। अहंकार से त्रिविध सृष्टि होती है- रजोगुण से इन्द्रिय अथवा तेज अथवा प्राण, तमोगुण से भूत तथा सत्त्व से देवसृष्टि। भूतसर्ग है- शब्द, स्पर्श, रूप , रस, गन्ध। इन्द्रियसर्ग है- वाक्, कर, पाद, उपस्थ, वायु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, दृक् तथा त्वचा। इनमें प्रथम पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं, अन्तिम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ। दिक् श्रुति का, वायु त्वचा का, रवि दृष्टि का, प्रचेता जिह्वा का, अश्विनी घ्राण का, अग्नि वाक् का, इन्द्र कर का, विष्णु पाद का, प्रजापति उपस्थ का तथा मित्र वायु का देवता है। विकल्प से प्रचेता के स्थान पर वरुण, अश्विनी के स्थान पर पृथ्वी, अग्नि के स्थान पर बृहस्पति तथा दिक् के स्थान पर व्योम को रखा जाता है। अन्य मतानुसार भूत पाँच

हैं तो इन्द्रियों में भी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही हैं तथा उनके देवता भी अग्नि, वायु सूर्य, चन्द्र तथा दिशा- ये पाँच ही हैं। द्रव्य से उत्पन्न शक्तियुक्त भूत है, ज्ञान तथा क्रिया की शक्ति से युक्त इन्द्रियाँ हैं। शरीर की लोमत्वगादि में कुमाराग्नि काम कार्य कर रही हैं, इन्द्रियों में तैजस देवता । कौमार सर्ग मर्त्य है, तैजस अमृत । अधिप्रज्ञा से ५ देव, अधिप्राण से ५ इन्द्रियाँ तथा अधिभूत से पंचतन्मात्रायें होती है। पंचतन्मात्राओं में क्रमशः एक एक की वृद्धि से पंच महाभूत बनते हैं। शब्द से आकाश; शब्द तथा स्पर्श से वायु; शब्द, स्पर्श तथा रूप से अग्नि; शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस से जल एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध से पृथ्वी होती है।

सर्ग नौ हैं- महान्, अहंकार, तन्मात्र, ऐन्द्रियक, वैकारिक, महाभूत, मुख्य, तिर्यक् तथा सुकृत। इनमें मुख्य का अर्थ है स्थावर, जो छह हैं- तृण, गुल्म, वीरुध (पृथ्वी पर फैलने वाली), लता (पेड़ों पर चढ़ने वाली), ओषधि (फलपाक के साथ ही समाप्त हो जाने वाली) तथा वनस्पति (पुष्प सहित) तिर्यक् एक शफ वाले, दो शफ वाले, पंचनख, पंखों वाले- इस प्रकार चार हैं। सुकृत मनुष्य हैं।

सृष्टि का संचरक्रम यह है - प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, अहंकार से मात्रा तथा मात्रा से अनुग्रह सर्ग उत्पन्न होता है। अनुग्रहसर्ग से धातुसर्ग होता है। धातु सर्ग का अर्थ है शरीर -घटक त्वक् रुधिरादि । प्रतिसंचर अर्थात् प्रलय का क्रम इसके विपरीत है।

वाक् तथा अपरवाद-

अपरवाद ग्रन्थ में दिये इस वर्णन के अतिरिक्त दशवादरहस्य में यह कहा गया है कि जल का भी कारण वाक् ही है जो कि जगत् का मूल है। जैसा कि वाक् सूक्त में घोषित किया गया है कि वाक् ही जगत् को उत्पन्न करती है। वाक् सूक्त में अपरव्योम से जुड़ी है क्योंकि अपरव्योम ही निरुक्त है; पर-व्योम तो अनिरुक्त है। अपरव्योम से जुड़ा होने के कारण वाक्सिद्धान्त भी अपरवाद में ही समाविष्ट हो गया।

अपर का अपरत्व –

अपरवाद के उपर्युक्त सभी प्रकार सृष्टि को मूल सृष्टि के भीतर ही खोज रहे हैं, किसी पर (अव्यय) पुरुष में नहीं, अतः ये सभी अपरवाद में समाहित है।

❐❐❐

आवरणवाद : भूमिका

[दशवाद पण्डित मधुसूदन ओझा की मौलिक अवधारणा है। उसी में एक वाद का विवरण इस भूमिका में है— सम्पादक]

आवरणवाद भी अन्य वादों के समान सृष्टि के मूलकारण को खोजने का एक प्रयास है। किसी भी वस्तु के तीन अंग होते हैं- नाम, रूप और कर्म, इन तीनों को मिलाकर वयः कहा जाता है। यह वयः वस्तु है। उस वस्तु का आकार वयोनाध है। आकार अथवा वयोनाध को छन्द भी कहते हैं, क्योंकि यह वयः अर्थात् वस्तु को आच्छादित या आवृत करता है। वयः और वयोनाध को मिलाकर वयुन कहा जाता है। शतपथ ब्रह्मण में वयः को प्राण भी कहा गया है। इस सारे विवेचन में वयोनाध अथवा छन्द का महत्त्व स्पष्ट है। पदार्थ एक आकारविशेष ही तो है और इस आकार को छन्द ही बनाता है। पदार्थ को हम दो रूप में ग्रहण करते हैं- वर्तुल, लम्बा, चौकोर आदि आकृति और लाल, पीला, हरा आदि वर्ण। इनमें आकार को त्वष्टा बनाता है और वर्ण को इन्द्र। छन्द पदार्थ के परिमाण को निश्चित करता है। परिमाण की भिन्नता से ही पदार्थ भिन्न होते हैं। अग्नि एक परिमाण में अन्न को पचाता है, दूसरे परिमाण में उसे पकाता है, और तीसरे परिमाण में उसे जलाकर भस्म बना देता है। यह छन्द की ही महिमा है, क्योंकि छन्द ही पदार्थ के परिमाण को निश्चित करता है।

वयः भी प्राण है, छन्द भी प्राण है। दोनों की युति ही वस्तु है। इस प्रकार प्राण ही वस्तु के स्वरूप को सुरक्षित रखता है, इसलिए वेद में प्राण को गोपा कहा गया है। ऐतरेय आरण्यक में इस गोपा प्राण की अन्तर्मुख और बहिर्मुख दो गतियों का उल्लेख है। ऐतरेय आरण्यक कहता

है कि प्राण कभी विश्राम नहीं करता। यह सब कुछ प्राण से आवृत है। यजुर्वेद में कहा गया है कि प्राण के बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। समस्त भूत प्रज्ञा में टिके हैं और प्रज्ञा प्राणों में टिकी है। प्राण न साधु कर्म से बढ़ता है न कलुष कर्म से छोटा होता है। वस्तुतः ब्राह्मण ग्रन्थ प्राण की महिमा के वर्णन से भरे हुए हैं।

छन्द के रूप में प्राण वस्तु की सीमा बाँधता है। छन्दों की भिन्नता के कारण ही देवताओं की भिन्नता बनती है। एक वस्तु दूसरी वस्तु से पांच कारणों से भिन्न होती है :- (१) आलम्बन भाव (२) प्राकृत भाव (३) भूतभाव (४) अनुभाव और (५) व्यभिचारी भाव। वस्तु का आलम्बन, देव, मनुष्य, पितर तथा असुर प्राण हैं। इन प्राणों के तारतम्य से प्रकृति बनती है, मनुष्य तुच्छ, पितर विरक्त, असुर उग्र, तथा देव दयावान् होते हैं। इन प्रकृतियों के परस्पर मिलने से सोलह प्रकृतियाँ बनती हैं जिनमं सात सत्त्वप्रधान हैं ब्रह्मा, ऋषि, गन्धर्व, कुबेर, इन्द्र, यम और वरु ण; छः रजःप्रधान हैं राक्षस, पिशाच, असुर, प्रेत, सर्प और पक्षी तथा तीन तमःप्रधान हैं- मत्स्य, पशु तथा वृक्ष। देवशरीर सत्त्वप्रधान है, मनुष्य शरीर रजःप्रधान है तथा पशुशरीर तमःप्रधान है। स्वभाव जन्म से होता है, कर्म से होता है तथा व्रत से होता है। इनमें सहज जन्मजात स्वभाव ही मुख्य है। स्वभाव का संबंध भी छन्दों से है। ब्राह्मण ग्रन्थों में किस छन्द का संबंध किस धर्म से है यह विस्तार से दिया गया है। गायत्री का ब्रह्मवर्चस् से, उष्णिक् का आयु से, अनुष्टुप् का स्वर्ग से, बृहती का श्री और यश से, पंक्ति का यज्ञ से, त्रिष्टुप् का इन्द्रियों के वीर्य से , जगती का पशु से और विराट् का अन्न से संबंध है। इनमें गायत्री का देवता अग्नि है। यह ब्राह्मण वर्ण का छन्द है। त्रिष्टुप् का देवता इन्द्र है। यह क्षत्रिय वर्ण का छन्द है। जगती का देवता विश्वेदेव हैं। यह वैश्यवर्ण का छन्द है, क्योंकि ब्राह्मण के छन्द में आठ अक्षर हैं इसलिए उसके उपनयन की आयु भी आठ वर्ष है। इसी प्रकार क्षत्रिय के त्रिष्टुप् छन्द में ग्यारह अक्षर हैं। उसके उपनयन की आयु भी ग्यारह वर्ष है। वैश्य के जगती छन्द में बारह अक्षर हैं। उसके

उपनयन की आयु भी बारह वर्ष है। पं. मोतीलाल जी शास्त्री ने इन सातों छन्दों का संबंध खगोल से भी स्थापित किया है। पृथिवी के बीचों-बोच जो भूमध्य रेखा है, वह पृथिवी की अन्य रेखाओं से मध्य में होने के कारण बड़ी है, इसलिए उस रेखा को बृहती कहा जाता है। भूमध्यरेखा पर सूर्य निरन्तर तपता है-**सूर्यो बृहतीमध्यूढस्तपति।** आधा खगोल इस रेखा के दक्षिण की ओर है, आधा खगोल उत्तर की ओर है। इसी के एक ओर १२,८ और ४ के अंशों पर ३ वृत्त हैं, जिसमें दक्षिण भाग का सबसे अन्तिम वृत्त मकर वृत्त कहलाता है। उत्तर भाग में भी इसी प्रकार तीन वृत्त हैं जिनमें सबसे अन्त में वृत्त कर्कवृत्त कहलाता है। मकर वृत्त का संबंध गायत्री छन्द से है और कर्कवृत्त का संबंध जगती छन्द से है। इनमें गायत्री सबसे छोटा है और जगती सबसे बड़ा है। गायत्री के एक पाद में ६ अक्षर होते हैं, उष्णिक् में ७, अनुष्टुप् में ८, बृहती में ९, पंक्ति में १० त्रिष्टुप् में ११ आर जगती में १२। ये छन्द ही पदार्थ का आकार निर्धारित करते हैं।

इस प्रकार तीन मुख्य छन्दों का संबंध तीन वर्णों से है, उसी प्रकार उनका संबंध तीन शरीरयात्रोपयोगी पदार्थों से भी है- अन्न, जल और वायु। इनमें अन्न घन, जल तरल और वायु विरल का उपलक्षण है। विश्व के समस्त पदार्थों का इन तीन भावों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

आलम्बन से प्राकृत भाव उत्पन्न होते है। सरस्वती से वाक्, पूषा से पशु, अग्नि से तेज, वरुण से ओज, भग से श्री, त्वष्टा से रूप, सविता से प्रेरणा तथा सोम से द्युम भाव उत्पन्न होता है। इसी प्रकार अन्य देवताओं से अन्य भाव उत्पन्न होते हैं।

पंच भूतों से शरीर का निर्माण होना भूतभाव है। इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। आलम्बन, प्राकृत तथा स्थायी भाव ये तीनों आत्मा हैं, क्योंकि इन तीनों से वस्तु के स्वरूप की स्थिति होती है। इनमें आलम्बन भाव जीवात्मा है, प्राकृतभाव अन्तरात्मा है तथा स्थायीभाव भूतात्मा है। ये तीन आत्मधर्म है। अनुभाव आत्मानात्मरूप है। व्यभिचारी भाव अनात्मरूप है।

अनुभाव चार हैं- मा, प्रमा, प्रतिमा और अस्रीवयः। मा संख्या है। यही एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ से पृथक् करती है। चाहे सजातीय भेद हो चाहे विजातीय, चाहे स्वगत, तीनों में संख्या ही हेतु बनती है। प्रमा वस्तु की प्रतिष्ठा है, प्रतिमा अनुरूपता और शेष धर्म अस्रीवि। डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार मा वह उपादान कारण है जिससे कोई पदार्थ बनता है, प्रमा उस उपादान कारण का परिमाण है तथा प्रतिमा वह आकार है जिस आकार में अमुक पदार्थ को अमुक परिमाण में ढाला जाता है। इस प्रकार इन मा, प्रमा, प्रतिमा आदि छन्दों के कारण जब परात्पर, जो असीम है, एक छन्द अर्थात् सीमा में बन्ध जाता है तो पुरुष कहलाता है। अव्यय पुरुष, अक्षर पुरुष और क्षर पुरुष इसी पुरुष के भेद हैं। सब संख्याओं के मूल में एक है, यही दश, शत और सहस्र बन जाता है। इसी प्रकार तन्मात्राभूत भूत-भौतिक और भौतिक विश्व बन जाता है।

पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ ये तीन लोक तो प्रसिद्ध हैं ही, चौथा लोक भी है- **अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः**। इन चार लोकों के चार ही देवता है- अग्नि, वायु , आदित्य और चन्द्रमा। इन चार लोकों और चार देवताओं का चार छन्दों से संबंध है। अग्नि देवता तथा पृथिवी का संबंध माछन्द से, वायु देवता तथा अन्तरिक्ष का प्रमा से, सूर्य देवता तथा द्यौ का प्रतिमा से तथा सोम देवता एवं दिशाओं का संबंध अस्रीवी से है। यहाँ मा का अर्थ संख्या परिच्छेद, प्रमा का अर्थ वस्तु की आयतनरूपा वस्तुप्रतिष्ठा तथा प्रतिमा का अर्थ सादृश्य है। किसी भी वस्तु के निर्माण में संख्या, संख्या का क्रम तथा प्रतिमान अर्थात् मॉडल चाहिये।

छन्द वाक् का परिमाण है- **वाक्परिमाणं छन्दः**। वाक् के गर्भ में प्राण है, प्राण के गर्भ में मन। मन का संबंध रूप स है, प्राण का कर्म से, वाक् का नाम से। यह रूप, कर्म और नाम की समष्टि ही पदार्थ है। वाक् का मन्द रूप गायत्री है, मध्य रूप त्रिष्टुप् और तार रूप जगती। प्रातः काल अग्नि मन्द होती है इसलिए वाक् भी मन्द होती है। इसका छन्द गायत्री है। यह ब्राह्मण वर्ण का छन्द है। ब्राह्मण प्रातःकालीन सूर्य के समान शान्त

किन्तु उत्तरोत्तर वर्धमान होता है मध्याह्न की वाक् मध्य होती है। इसका छन्द त्रिष्टुप् है। इसका संबंध क्षत्रिय से है। क्षत्रिय मध्याह्न के सूर्य के समान प्रचण्ड होता है। सायंकाल की वाक् तारस्वर वाली है। इसका छन्द जगती है। यह वैश्य वर्ण का छन्द है। वैश्य वर्ण सायंकालीन सूर्य के समान नम्र, किन्तु क्षयिष्णु होता है। मन्दवाक् उर:स्थान तक जाती है, मध्यमवाक् कण्ठपर्यन्त, और तारस्वर वाली वाक् मुखपर्यन्त। इसलिए मनु ने ब्राह्मण के लिए उर:स्थलपर्यन्त, क्षत्रिय के लिए कण्ठ-पर्यन्त और वैश्य के लिए मुखपर्यन्त जल के स्पर्श करने वाले आचमन का विधान किया है।

शरीर के भूत, प्राण और प्रज्ञा ये तीन पाद हैं। उसमें ऊपर भी चार प्राण तथा नीचे भी चार प्राण-इस प्रकार आठ प्राण हैं। यही आठ प्राण त्रिपाद् होकर चौबीस अक्षरों वाली गायत्री होती है। भूतगायत्री के आठ अक्षर हैं- अप्, फेन, ऊष (क्षार), सिकता, शर्करा, अश्मा, अय: तथा हिरण्य। इस गायत्री के तीन पाद हैं- भूत, प्रज्ञा तथा तेजस्, जो क्रमश: वाक्, गौ तथा द्यौ कहलाते हैं। आदित्य गायत्री के आठ अक्षर हैं- मित्र वरुण, भग, अंश, धाता, अर्यमा, सविता तथा विवस्वान्। द्युगायत्री के तीन पाद हैं- ज्योति: गौ तथा आयु। सर्वात्मिका गायत्री के आठ अक्षर हैं- पृथिवी, अप्, अग्नि, वायु, विद्युत, सोम, रवि, आत्मा। लोकगायत्री के चौबीस अक्षर हैं- व्याघ्र, सिंह, महिष, वराह, ऋक्ष, मतंग और कपि ये सात आरण्य पशु; गौर अवि, अज, अश्वतर, अश्व, रासभ और मनुज ये सात ग्राम्य पशु एवं वृक्ष, गुल्म, लता, प्रतान और तृण ये पांच उद्भिज्ज, वाङ्मय, पार्थिव तैजस, आप्य और वायव्य ये पांच जीव। वर्ष के १२ मास के २४ पर्व भी गायत्री के २४ अक्षर हैं। पृथिवी अन्तरिक्ष तथा द्युलोक की आठ आठ दिशाएं मिलकर २४ दिशाएं भी गायत्री के २४ अक्षर हैं। इस प्रकार सब कुछ गायत्रीमय ही है।

विराट् के दश अक्षर हैं। अग्नियाँ भी दस हैं। आठ धिष्ण्य तथा दो आहवनीय एवं गार्हपत्य। अक्षर ब्रह्मवाक्रूप है। इसका परिच्छेदविशेष ही छन्द है। संवत्सर पुरुष है। उसके पीछे ऋग्वेदियों का अग्नि है। ये तीन

वेद समुद्र हैं। जिनके पीछे छन्द है, उनके पीछे लोक तथा लोकों के पीछे आत्मा।

बुद्धि में अन्तः स्थित घट प्रमा है। वह अविनाशी है। यही आन्तरिक घट बाह्य घट की प्रतिष्ठा है। वस्तु का आवरण ही उसे वस्त्वन्तर से भिन्न करता है।

मिट्टी घड़ा नहीं है, आकृति ही घड़ा है। अन्यथा मिट्टी के बने तो दीपक भी हैं। हाथी घोड़ों से आकृति में ही भिन्न हैं, हाड़ मांस की दृष्टि से नहीं। सागर सरोवर नदियों के भेदक आकृतियां ही हैं, जल नहीं। आकृति ही पदार्थ की पहचान कराती है।

वस्तुओं की एक सहज आकृति है जो बदली नहीं जा सकती; अन्यथा वानर हाथी के प्रमाण का बन जाता। वानर के शिशु के छन्द की पूर्णता होने पर वह आगे नहीं बढ़ता, किन्तु मनुष्य का बालक जन्म के समय वानर के बच्चे जितना होने पर भी बढ़ता रहता है, क्योंकि दोनों का छन्दपरिमाण न्यूनाधिक है।

संसार के सभी पदार्थ मित हैं, अतः छन्द हैं। शास्त्रों में गिनवाये गये अनेक छन्द तो केवल उपलक्षण हैं, वस्तुतः छन्द असंख्य है। बालुकण अनन्त हैं। ग्रहण किया हुआ आकाश देश है, ग्रहण न किया हुआ आकाश दिक् है। सूर्योदय के निकट पूर्व दिशा ध्रुव के निकट उत्तर दिशा है। सत्ता ही अपने अन्तराल में काल बनाती है। जब तक घट है तभी तक घटकाल है। सूर्यकाल अहः है। उससे भिन्न निशा है।

छन्द अग्नि का वसन है। अस्त्रीवयः, प्रतिमा, प्रमा तथा मा से दैहिक अग्निमात्र आवृत है, अतः वे अग्नि का वस्त्र कहलाते हैं। शिल्प दो प्रकार का है– अपूर्व तथा प्रतिरूप। ये शिल्प अनुभाव कहलाते हैं।

व्यभिचारी भाव अनात्मभाव हैं, यथा उष्णता, शीतलता, मलिनता, स्वच्छता आदि। ये आगमापायी हैं। ये नित्य नहीं हैं।

आना जाना आदि भाव उपचार है, क्योंकि जो एक के लिए आना है वही दूसरे के लिए जाना है। अत: उनका आना या जाना नाम औपचारिक ही है, पारमार्थिक नहीं।

वेदों में छन्द का इतना सर्वव्यापक रूप दिया गया है कि समस्त जगत् ही छन्दोमय बन गया है। एक इस प्रकार का रूपक है सूर्यरथ का । इस सूर्यरथ के दो चक्र हैं गायत्री तथा जगती। उष्णिक् तथा त्रिष्टुप् जुआ है, पंक्ति और अनुष्टुप् अश्व है। बृहती आसन का फलक है। इस सूर्यरथ को एकचक्र भी बताया गया है। यह एक चक्र क्रान्तिवृत्त है। छन्द उसी रथ के अश्व हैं। कर्कवृत्त जगती है जो उत्तर में है। बृहती विषुवत है जो मध्य में है। नीचे दक्षिण में गायत्री मकर है। गायत्री और बृहती तथा जगती के मध्य में त्रिष्टुप् तथा पंक्ति है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में आलम्बन, प्राकृत, स्थायी, अनुभाव तथा संचारी भाव होते हैं। अनुभाव छन्द है। संचारी अनात्मधर्म है। शेष तीन अनात्मधर्म हैं। आत्मधर्म वय है तथा कुछ अनात्मधर्म भी वय है । अनुभाव वयोनाध है। उपचारधर्म भी वयोनाध है।

सूर्य ही महेश्वर है। यह भी अनवच्छिन्न नहीं है बल्कि मित है। इस मित से ही मित जगत् उत्पन्न होता है। छन्द अनन्त हैं किन्तु विभु तथा एक नहीं हैं। सभी पदार्थ मित हैं, अत: छन्दोबद्ध हैं। मित ही प्रमिति का विषय बनता है। आकाश भी मित होकर ही प्रतीति का विषय बनता है।

न कुछ कारण है न कार्य। स्वस्तिक से स्रुक तथा स्रुक से स्वस्तिक बन जाता है। केवल रूपपरिवर्तन करना होता है। अप् से पृथिवी तथा पृथिवी से अप् उत्पन्न होता है। मिट्टी से घट तथा घट से मिट्टी बनती है। सभी कारण अवान्तर हैं, आदिकारण कुछ भी नहीं है। अत: ब्रह्म की खोज निरर्थक है। जब सभी मित है, तो अपरिमित ब्रह्म के होने का क्या प्रमाण है ?

उपर्युक्त वर्णन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अन्य वादों के समान आवरणवाद भी सृष्टि के रहस्य उद्घाटित करने में समर्थ है, किन्तु

ऐसा तभी संभव है जब यह सिद्धान्तपक्ष अर्थात् ब्रह्मवाद से जुड़कर चले। इसके विपरीत यदि आवरणवाद ब्रह्मवाद का प्रतिद्वन्द्वी होकर आता है तो यह केवल शब्दजाल होकर रह जाता है, तत्त्व तक नहीं पहुँच पाता। आवरणवाद की इसी महत्ता को देखकर **पण्डित मधुसूदन ओझा** ने इसका इतना विस्तृत वर्णन किया है। उस वर्णन का आधार तो शास्त्र में है किन्तु उसका इतना विस्तार **पण्डित ओझा** की मौलिक प्रतिभा का फल है। निश्चय ही इतना विस्तार इन वादों को किसी प्राचीन या अर्वाचीन, पाश्चात्य या पौरस्त्य विद्वान् ने अब तक नहीं दिया था। इतना क्रमबद्ध और विस्तृत व्याख्यान करने के लिए **पण्डित ओझा** की प्रतिभा के सम्मुख सभी को नतमस्तक होना होगा।

आवरणवाद के अतिरिक्त पं. मधुसूदन ओझा ने अपने दो अन्य ग्रन्थों में भी आवरणवाद का संक्षिप्त उल्लेख किया है। इनमें दशवादरहस्य के अन्तर्गत अठारह श्लोकों में और ब्रह्मविनय के अन्तर्गत आठ श्लोकों में आवरणवाद का उल्लेख है।

❐❐❐

अम्भोवादः

[पण्डित मधुसूदन ओझा द्वारा प्रतिपादित एक वाद की रूपरेखा इस लेख में है— सम्पादक]

ऋग्वेदस्य नासदीयसूक्तमधिकृत्य पण्डितमधुसूदनओझामहोदयेन सृष्टिविद्यया सम्बद्धा ये दशवादाः प्रतिपादितास्तेष्वम्भोवादोऽन्यतमः। अस्यैव वादस्य प्रतिपादकोऽम्भोवादग्रन्थः सम्प्रति मम मित्रैर्वेदतत्त्वज्ञैः पण्डितवर्यैरनन्तरामशर्ममहोदयैः सटिप्पणमनूद्य पण्डितमधुसूदनओझा-शोधप्रकोष्ठाय समर्पितः। स च तस्य प्रकोष्ठस्य निदेशकैः डाक्टरोपाधिविभूषितैर्मम वयस्यैः श्रीगणेशीलालसुथारमहोदयैः महता श्रमेण प्रकाश्यते। सम्पादनभारमूरीकृतेन मया ग्रन्थस्यास्य पाण्डुलिपिराद्योपान्तं निपुणं निरीक्षिता। अत्र यथा मूललेखकस्य पाण्डित्यं प्रतिपदं प्रकटीभवति तथैवानुवादकस्य टिप्पणीलेखने वैदुष्यं प्रधानसम्पादकस्य सम्पादनकौशलमपि च सर्वत्राविर्भवति। तत्र सम्पादकत्वेन मम किञ्चिदपि वाच्यं नास्ति। केवलन्तु ग्रन्थविषयप्रवेशकत्वेन किञ्चिद्वक्तुमुत्सहे।

नासदीयसूक्ते-

''तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रे
अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्''

इत्युक्तम। यद्यपि ततः पूर्वं तस्मिन्नेव सूक्ते 'अम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्' इति काक्काम्भोवादो निरस्तः। कोऽभिप्रायः? अम्भोवादः पूर्वपक्षो न तूत्तरपक्ष इत्यभिप्रायः। तस्मादम्भोवादस्यानुमोदकानि श्रुतिवाक्यानि पूर्वपक्षप्रतिपादकानीत्यवधेयम्।

अघमर्षणसूक्ते समुद्रात्संवत्सर उत्पद्यत इत्युक्तम् – समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽजायतेति अपां महत्त्वं श्रुतिषु बहुधा गीयते, तद्यथा– प्र सुव आपो महिमानुत्तम (ऋग्वेदः १०/७५/१)अन्यच्चापि ६/५०/७, १/१०१/१, शतपथब्राह्मणञ्च ११/१/६/१, १/१/१/१४, ६/१/१/८,१०/५/४/१५, १०/५/४/१४, ४/५/२/१४) । शरीरेऽस्माकं जलस्य बाहुल्यमिति वैज्ञानिकाः। वायुप्रवेशेन जलमेव फेनमाध्यमेन पृथ्वीं जनयति। अन्तरिक्षे मेघरूपेण जलं चन्द्रमसि च सोमरूपेण जलम्। सूर्ये मरीचिजलम्। किम्बहूना, जलमेव अन्नमन्नञ्च शुक्रं निष्पादयति। शुकण गर्भनिर्माणम्।

सृष्टेः निर्माणं भृग्वङ्गिराभ्याम् । भृग्वङ्गिरोरूपञ्चापः। तद्यथा–

आपोभृग्वङ्गिरिरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः।।

इति गोपथब्राह्मणवचनम्। तत्रेदं रहस्यम्–ऋक् व्यासः, साम परिधिः। केन्द्राभिमुखगतिरागतिः भृगुः। परिधिं प्रति गतिरङ्गिरा। अनयोर्युगगलं ऋचं व्यासं, साम परिधिं, वर्तुलव्याप्तं यजुश्च युनक्ति। अत एवोक्तं अन्तरैते त्रयो वेदा इति।

जलमापः सर्वत्र व्याप्तत्वात् उपरि मेघे जलमधस्तात्पृथिव्यां जलम्। अस्य जलस्य त्रिविधा गतिः–तिर्यक् ऊर्ध्वम्, अधश्च। तिर्यग्गत्या न तनुतोत्पद्यते न च घनता। ऊर्ध्वगत्या तु तनुताऽधोगत्या च घनतोत्पद्यते। तनुगत्या अग्नेर्वायुः, ततो वाक्, ततः प्राणाः, ततश्च मनो जायते। घनतया शरीरोत्पत्तिः। तत्र घनं पूर्वं द्रवं ततस्तनु भवति। तनु अपि पूर्वं द्रवं ततो घनं जायते। एवमन्योऽन्यविनिमयचक्रश्चलति। तत्र चक्रसञ्चालनमाध्यमं जलमेव।

जलं परमेष्ठिलोके तिष्ठति। स्वयंम्भूमण्डले तु मानसी प्राणसृष्टिः। प्रथमा मैथुनी सृष्टिस्तु परमेष्ठीलोक एव। अत एव 'अप एव ससर्जादा' विति मनुः।

आपो भृग्वङ्गिरिररूपम्। तत्र भृगुः स्नेहतत्त्वमङ्गिरा च तैजसतत्त्वम् तत्र तैजसतत्त्वे स्नेहतत्त्वाहुतिर्यज्ञः। तरलत्वेनाप ऋतमित्युच्यते। गोपथब्रह्मणे ऋतस्य सर्वाधारत्वमुक्तम्–

ऋतमेव परमेष्ठी ऋतं नात्येति किञ्चन।
ऋते समुद्र आहित ऋते भूमिरियं श्रिता।।

शतपथब्राह्मणे अपां व्युत्पत्तिस्तद्यथा—सां इदं सर्वमाप्नोत् यदिदं किञ्च। यदाप्नोत्तस्मादापः। यदवृणोत्तस्मात् वाः (वारि) (शतपथब्रह्मणम् ६/१/१/७९) तस्मात्कारणात् सर्वमापोमयं जगदिति महाभारतवचनम् । ताण्ड्यब्रह्मणञ्च (१,६,६,३)– अमृतः ह्यापः। यत्र जलं नास्ति, शरीरस्य स एव भागोऽपवित्रः, यथा–केशाः नखाः वा।

गोपथब्रह्मणे (१,१,२) अपां रहस्यमेवमुद्घाटितम्—ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्—स्वयन्त्वेकमेव। तदभ्यश्राम्यत् समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहः। तदार्द्रमजायत, तेनानन्दत्। सुवेदोऽभवत्। तं वा एवं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते। इत्येवं नैकश्रुतिस्मृतिपुराणप्रमाणैरपां सृष्टिनिर्माणेऽवदानं स्फुटीभवति। पण्डित मधुसूदनओझामहोदयैः स्वग्रन्थे तत्सर्वं सविस्तरं पतिपादितम्। किन्तु ओझामहोदयानां विषयप्रतिपादनं सरलं नास्ति। पण्डितवर्यैरनन्तशर्ममहोदयैः टिप्पणीमाध्यमेन स विषयो विशदीकृतः। तत्रेषां श्रमः स्फुटतया प्रतिभाति। यदि ओझामहोदयानामन्येषामपि ग्रन्थानां विवेचनं श्रीमन्तोऽनन्तशर्माणः कुर्वन्ति तर्हि तद् वेदविज्ञानस्य महदुपकाराय प्रभवेदित्यभ्युपगच्छामि।

❑❑❑

यज्ञ संस्कृति

[यज्ञ वेद का मेरुदण्ड है। उसका रहस्य प्रमाणपूर्वक इस लेख में अङ्कित है— सम्पादक]

अग्नि, वायु और आदित्य, पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक के देव हैं। समस्त देव इन तीन देवों में समाहित हैं। अतः इन तीन देवों का हृदय कहा गया है-**अग्निर्वायुरादित्य एतानि ह तानि देवानां हृदयानि—** (शतपथ १.३.४.१२ अपिच-**तिस्र एव देवता**-निरुक्त ७.२)। अग्नि अथवा वसु ८, वायु अथवा रुद्र ११ तथा आदित्य १२ हैं। इन ३१ में इन्द्र और प्रजापति को जोडकर ३३ देव बनते हैं—(**अष्टौ वसव एकादश रुद्राः द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशत् । इन्द्रश्च वै प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंश इति**-तदेव १४.६.९.३)। ये तैंतीस प्राण अथवा 'साइकिक एनर्जी' हैं, जिनसे समस्त जगत् निर्मित हुआ। प्रथमतः अग्नि से ऋक्, वायु से यजुष् तथा आदित्य से साम उत्पन्न हुआ- **सोऽग्नेरेवेर्चोऽसृजत वायोर्यजूंषि आदित्यात्सामानि—**(शाङ्ख्यायन ब्राह्मण ६.१० अपि च शतपथ ११.५.८.३ तथा मनु स्मृति १.२३)। पुनः ऋक् से मूर्त्त यजु से गति तथा साम से तेज उत्पन्न हुआ तथा ये सब कुछ ब्राह्म अर्थात् अथर्ववेद से उत्पन्न हुआ-

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजूषी हैव शश्वत्।
सर्व तेजः सामारूप्यं ह शश्वत् सर्व हेदं ब्राह्मण हैव सृष्टम्।।

(तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.२.९)

जहाँ ऋक्, यजु, साम का प्रश्न है, वे स्वयम् उस यज्ञ से उत्पन्न हुए, जिसमें पुरुष ने अपना सर्वस्व होम दिया था–

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतःऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिक्रे तस्मात् यजुस्तस्मादजायत।।

—(ऋग्वेद १०.९.९)

इस प्रकार यज्ञ से सृष्टि उत्पत्ति की प्रक्रिया का क्रम यह होगा–

ऋक्	अग्नि	मूर्त्त पदार्थ	भूः
यजुः	वायु	क्रिया	भुवः
साम	आदित्य	तेज	स्वः

वेद और दर्शनशास्त्र–

यज्ञ से सृष्टि की उत्पत्ति के इस क्रम को समझना ही विज्ञान है। इसके विस्तार में यहाँ नहीं जाना है। किन्तु संक्षेप में संकेत रूप में यह कहा जा सकता है कि अग्नि, वायु और आदित्य सांख्यदर्शन के तमस्, रजस् और सत्व गुण के समकक्ष है। इन तीन गुणों को ही सांख्य ने प्रकृति बताया है तथा प्रकृति से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति का विस्तार प्रदर्शित किया है। दूसरी ओर वेदान्त अग्नि, वायु तथा आदित्य को ही व्यष्टि तथा समष्टि में इस प्रकार दिखाता है–

देव	**व्यष्टि**	**समष्टि**
अग्नि	वैश्वानर	विराट्
वायु	तैजस	हिरण्यगर्भ
आदित्य	प्राज्ञ	ईश्वर

इस विषय का विस्तार वेदान्त-सार आदि ग्रन्थों में हैं, अतः यहाँ विस्तार न करके केवल संकेत मात्र मात्र कर दिया गया है।

त्रयी की व्यापकता–

वस्तुस्थिति यह है कि ऋक्, यजु, साम की त्रयी में समस्त ब्रह्माण्ड समाहित हैं- **त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि**—(शतपथ १०.४.२.२२)। दिङ्मात्र उदाहरण के रूप में निम्न तालिका पर दृष्टिपात करें-

	ऋक्	**यजुः**	**साम**
वैदिक देवता	अग्नि	वायु	आदित्य
लोक	भूः	भुवः	स्वः
छन्द	गायत्री	त्रिष्टुप्	जगती
आत्मा	वाक्	मनः	प्राण
पिण्ड	अर्थ	क्रिया	ज्ञान
अग्नि	गार्हपत्याग्नि	दक्षिणाग्नि	आहवनीयाग्नि
पौराणिक त्रिदेव	ब्रह्मा	विष्णु	रुद्र

अधिक क्या कहें, इस प्रकार त्रयीविद्या से बाहर कुछ भी नहीं हैं। इसीलिए मनु ने भी कह दिया - **सर्वं वेदात्प्रसिध्यति।** लोग उपहास करते हैं कि वेद वाले भी खूब हैं- हवाई जहाज, एटम बॉम्ब इत्यादि जो भी आविष्कार होता है, उसे ही तोड़-मरोड़कर वेद में दिखा देते हैं। इस उपहास के लिए हम वेद वाले भी उत्तरदायी हैं। मनु का यह अभिप्राय नहीं था कि राकेट बनाने की विधि भी वेद में लिखी है। मनु के अभिप्राय को एक उदाहरण द्वारा समझें। रोमन लिपि ABCD आदि कुल २६ अक्षर हैं। रोमन लिपि में जो भी अंग्रेजी, फ्रेन्च, जर्मन आदि लिखी जायेंगी, उसके सब शब्द इन २६ अक्षरों से ही बनेगें क्योंकि २७ वाँ अक्षर रोमन लिपि में है ही नहीं। अब यदि कोई यह कहे कि अँग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं की सब पुस्तकें इन २६ अक्षरों से ही बनी है, तो वह गलत नहीं होगा। किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं हैं, कि जो इन २६ अक्षरों जान लेता हैं, वह इतने मात्र से अंग्रेजी-फ्रेन्च, जर्मन आदि सब भाषाओं को जान लता है। वेद किसी लिपि की वर्णमाला के समान है। उस लिपि की

वर्णमाला से संसार का सारा ज्ञान निर्मित किया जा सकता है। उस लिपि की वर्णमाला ही त्रयी है। यह त्रयी सृष्टि-विद्या की वर्णमाला है। किन्तु इस त्रयी का उपबृंहण हमें स्वयं अपने बुद्धिबल से कराना होगा— **इतिहास-पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।** विचार करना चाहिए कि यदि मनु के **'सर्वं वेदात्प्रसिध्यति'** का यह अर्थ होता कि वेद में राकेट बनाने की विधि भी लिखी है तो फि र धनुर्वेद नामक उपवेद की क्या आवश्यकता थी, अथवा श्रुति के अनन्तर स्मृतियों की क्या आवश्यकता थी? स्वयं मनु ही **'सर्वं वेदात्प्रसिध्यति'** भी कहे और चारों वेदों के रहते एक स्मृति बनाने की आवश्यकता भी अनुभव करे- यह तो वदतो व्याघात हुआ। मनु का आशय न समझ कर हम उपहास के पात्र बन रहे हैं।

कामना-पूर्ति का क्रम-

इसी प्रकार पुरुष सूक्त में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया के आधार पर कोई यह मान ले कि क्योंकि यज्ञ से सब कुछ पैदा हो सकता है, अतः अग्नि में घृतादि की आहूति देने से उसका घर बन जायेगा, तो यह हास्य का पात्र ही बनेगा। नासदीय सूक्त में सृष्टि की प्रक्रिया के क्रम से चलने पर घर भी बन सकता है। ब्रह्म ने सृष्टि की रचना की तो वह इसलिये सफल हो सका कि उसके पास स्वधा नाम की शक्ति थी- **आनीदवातं स्वधया तदेकम्।** यदि मुझे घर बनाना है तो मेरे पास घर बनाने की शक्ति होनी चाहिये। पैसा हो और पैसे से गृह-निर्माण की सामग्री कहाँ से कैसे मिलेगी— यह ज्ञान हो। स्वधा के साथ ब्रह्म के पास सर्जन की कामना थी -**कामस्तदग्रे समवर्ततााधि।** उसने चाहा कि मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ-**एकोऽहं बहु स्याम।** इस कामना ने प्राणों में स्पन्दन पैदा कर दिया- **तिरश्चीनः विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्—**(रश्मि शब्द भी प्राण का ही सूचक है- **प्राणाः रश्मयः**- तैत्तिरीय ब्राह्मणम् ३.२.५.२)। इस गति ने पदार्थ को जन्म दे दिया अर्थात् क्वाण्टम अथवा ऊर्जा घनीभूत होकर पदार्थ बन गयी। किन्तु इसके लिये स्रष्टा को तीन कदम उठाने पड़े- कामना, तप

और श्रम- **सोऽकामयत, य तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत—**(शतपथ १४.४.३.१०)। केवल कामना पर्याप्त नहीं है—**नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।** कामना के अनन्तर तप—आन्तरिक ज्ञानरूप व्यापार—होना चाहिये-**यस्य ज्ञानमयं तपः।** केवल ज्ञान भी अपर्याप्त हैं, ज्ञानानुकूल श्रम होना चाहिये- **न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।**

यज्ञ की संस्कृति तप और श्रम की संस्कृति है, निठल्लेपन की संस्कृति नहीं हैं। इस देश का अभ्युदय होगा तो तप और श्रम से होगा। पश्चिम के जो देश विकसित हुए हैं, तप और श्रम से हुए हैं। हम वेद और यज्ञ के गुणगान करते रहे, किन्तु तप और श्रम से जी चुराते रहें तो जैसे 'मिठाई, मिठाई' रटते रहने से मुँह मीठा नहीं हो जाता वैसे ही 'वेद, वेद' कहते रहने से हमें कुछ नहीं मिलेगा।

वेद तथा वेदोत्तर साहित्य-

मन की कामना से युक्त पुरुष गीता का अव्यय पुरुष है और प्राणों के तप से युक्त अक्षर पुरुष है। वस्तुस्थिति यह है कि वेदों के रहस्य को समझे बिना भारतीय विद्या के व्याकरण जैसे लौकिक विषयों की भी पूरी तरह समझ नहीं आ सकती गीतादि अध्यात्म के तथा ब्रह्मसूत्रादि दर्शन के ग्रन्थों की तो बात ही क्या है? व्याकरण को वेदांग कहा जाता है, किन्तु अंगी के बिना अंग की दुर्दशा ही होती है। आज कितने वैयाकरण वेद के रहस्य को समझने का प्रयत्न करते हैं? ज्योतिष वेद का चक्षु है। ऐसे अनेक ज्योतिषी हैं जो ज्योतिष के बल पर अकूत धन बटोर रहे हैं, किन्तु वेद की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते। किन्तु वेद से कट कर वेदांग समृद्ध नहीं हो सकते। वस्तुतः कोई भी भारतीय-विद्या वेद के ज्ञान के बिना ऐसी ही है, जैसे मूल के बिना वृक्ष।

श्रौतयज्ञ तो यदा-कदा ही होते हैं। किन्तु स्मार्त कर्मों के कराने वाले पुरोहित भी वेद का मर्म जानने की कम ही कोशिश करते हैं। यदि वेद-वेदांग का ज्ञाता यज्ञ सम्पादित कराये तो चमत्कार घटित हो सकता है,

किन्तु विधिवद् वेद-वेदांग पढ़ने वाले हैं कितने? जयपुर जैसी अपरा काशी नाम से प्रसिद्ध नगरी में भी ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु और उद्गाता के जो गुण होने चाहिए, उन गुणों से सम्पन्न ऋत्विक् कितने मिल पायेंगे, यह अनुसन्धान का विषय हैं। अग्निहोत्री यजमान कहाँ हैं? ऐसे दुष्काल में श्रौतयज्ञों का शास्त्रोक्त परिणाम कहाँ से सामने आये?

निष्कर्ष

यज्ञ का वास्तविक फल तो वह कर्म कुशलता है, जिसे गीता ने **'योगः कर्मसु कौशलम्'** कहा है। इस कर्म कुशलता का लक्षण है कि साधक कर्म करे, किन्तु न तो कर्तृत्व के अहंकार से बँधे, न फलासक्ति से। ऐसा करने वाला साधक कर्म द्वारा अभ्युदय को प्राप्त कर लेता है और निर्लिप्तता द्वारा निःश्रेयस को भी प्राप्त कर लेता है, अविद्या से मृत्यु को भी पार कर लेता है तथा विद्या से अमृतत्व की प्राप्ति भी कर लेता है। यज्ञसंस्कृति भौतिक सुख तथा मानसिक शान्ति दोनों की सम्पादिका है और जिसके जीवन में ऋद्धि-सिद्धि और शान्ति दोनों है, उसकी आयु ही यज्ञमय है, वही **'आयुर्यज्ञेन कल्पन्ताम्'** के श्रौत आदेश का पालन कर रहा है। न दरिद्रता अभीष्ट है, न अशान्ति।

यज्ञ संस्कृति का सन्देश पूरे विश्व के लिये है- **'सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा'।** भारत के लिये यज्ञ का सन्देश हैं- **'चरैवेति चरैवेति'**, निरन्तर कठोर श्रम द्वारा दरिद्रता का विलय । पश्चिम के लिय यज्ञ संस्कृति का संदेश हैं- **भोगाः न भुक्ता वयमेव भुक्ताः'** । भोग मनुष्य जीवन का लक्ष्य नहीं हैं। मनुष्य जीवन का लक्ष्य है- आत्म - साक्षात्कार द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति । भूमण्डलीकरण के इस युग में हम यज्ञ संस्कृति को सार्वभौम बनायें। वह किसी एक की बपौती नहीं है। उसका सन्देश सार्वकालिक और सार्वदेशिक हैं।

❑❑❑

वेद-विज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान

[यह लेख फ्रिटज़ॉफ काप्रा की कृतियों के आलोक में वेदविज्ञान का महत्त्व उजागर करता है— सम्पादक]

१.- विज्ञान का लक्षण :

१.१ **तैत्तिरीय आरण्यक** तथा **तैत्तिरीय उपनिषद्** में कहा गया है कि विज्ञान से यज्ञ का तथा कर्मों का विस्तार होता है- **विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च**।[७४] संभवतः इसी श्रुति प्रमाण से प्रेरणा लेकर **श्री मधुसूदन सरस्वती** ने गीता पर भाष्य करते हुए विज्ञान को कर्मकाण्ड में यज्ञादि-कर्म-कौशल कहा है- **विज्ञानं कर्मकाण्डे यज्ञादिकर्मकौशलम्**।[७५] दूसरी ओर **पंडित मधुसूदन ओझा के शिष्य महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा** चतुर्वेदी ने विज्ञान को यज्ञविद्या बतलाते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया कि एक का अनेक में अवतरण हो जाना विज्ञान है- **एकस्माद् अनेकस्मिन्नवतरणं विज्ञानं यज्ञविद्या** तथा इसके विपरीत अनेक से एक की ओर गति ज्ञान है- **अनेकस्मादेकस्मिन्नारोहरणज्ञानं ब्रह्मविद्या।**[७६]

---

७४ तैत्तिरीयारण्यक ८.५.१, तैत्तिरीय उपनिषद् २.५.१

७५ गीता १८/४२ पर श्री मधुसूदन सरस्वती कृत भाष्य

७६ महर्षि कुलवैभवम्, उपोद्घात पृ.३

१.२ विज्ञान की उपर्युक्त श्रुतिसम्मत व्याख्या आज की साइन्स की अवधारणा से बहुत कुछ मिलती है। प्राय: साइन्स की सभी शाखाएं प्रयोग (एक्सपेरीमेन्ट) पर अवलम्बित है, जबकि **तैत्तिरीयारण्यक** भी विज्ञान द्वारा कर्मों का विस्तार होना मानता है। साइंस की प्रयोगमूलकता तथा वेद के विज्ञान की कर्ममूलकता लगभग एक ही तथ्य की ओर संकेत करते हैं। आचार्य शंकर ने गीता के **ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषत:**[७७] अंश पर व्याख्या करते हुए **''विज्ञानसहितम्= स्वानुभव -संयुक्तम्''** लिखा है। प्रयोग-सिद्ध कहें अथवा स्वानुभव-संयुक्त कहें, एक ही बात है। दोनों में पर्याप्त समानता है।

२- ज्ञान-विज्ञान-समन्वय

२.१ गीता में **''ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्''** तथा **''ज्ञानं विज्ञानसहितम्''**[७८] कहा गया है। इस प्रकार गीता ज्ञान-विज्ञान दोनों पर ही बल देती है। ज्ञान को हमने ऊपर **महामहोपाध्याय गिरिधर शर्मा** जी के आधार पर ब्रह्मविद्या कहा है। अमरकोष भी ज्ञान का अर्थ मोक्ष ज्ञान ही करता है- **मोक्षे धीर्ज्ञानम्। ''ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:'', ''सा विद्या या विमुक्तये''** आदि सुप्रसिद्ध श्रुतिवाक्यों में भी ज्ञान का सम्बन्ध मुक्ति से बताया गया है। इस प्रकार ज्ञान तथा विज्ञान के क्रमश: ब्रह्मज्ञान तथा यज्ञविज्ञान अर्थ निश्चित हो जाने पर तथा गीता के उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर ही नहीं प्रत्युत यजुर्वेद के **''विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते''**[७९] आदि वाक्यों के आधार पर भी ज्ञान के साथ विज्ञान की उपयोगिता प्रमाणित हो जाने पर हम यज्ञविज्ञान के सम्बन्ध में विद्वानों का एक तथ्य की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

३-यज्ञ विद्या में अन्तर्निहित विश्वदृष्टि

---

७७ गीता ७/२

७८ गीता ८/१

७९ यजुर्वेद ४०.१२

३.१ यज्ञ विद्या केवल कर्मकाण्ड ही नहीं है बल्कि यज्ञ के पीछे रहने वाली एक विश्वदृष्टि है। भले ही आज अधिकांश कर्मकाण्डियों को पद्धति के अनुसार कर्म करा देने मात्र से संतोष हो जाता हो, किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में प्रत्येक कर्म के पीछे एक उपपत्ति दी गयी है। यही कर्मकाण्ड के पीछे रहने वाली विश्वदृष्टि पंडित मधुसूदन ओझा तथा उनके शिष्यों द्वारा वेदविज्ञान नाम से अभिहित हुई। भले संज्ञा नयी हो, किन्तु संज्ञी उतना ही पुराना है, जितना वेद।

३.२ यज्ञविद्या की पृष्ठभूमि में रहने वाली इस विश्वदृष्टि की दो विशेषताएं हैं–

१. प्रथम तो यह दृष्टि नाम–रूप को मिथ्या नहीं मानकर, सत्य मानती है। श्रुति प्रमाण बहुत स्पष्ट और निःसंदिग्ध है– **नामरूप सत्यम्।**[८०] इस श्रुतिवाक्य के विरोध में नामरूप को मिथ्या बताने वाला एक भी वाक्य पूरे वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध नहीं है।

२. दूसरे, वेद विज्ञान निःश्रेयस के साथ अभ्युदय को भी इष्ट मानता है। इसी का परिणाम है कि धर्म और मोक्ष के समान काम तथा अर्थ को भी पुरुषार्थ माना गया है तथा अन्य आश्रमों के समान गृहस्थ को न केवल मान्यता मिली, बल्कि उसे सब आश्रमों का अवलम्ब बताया गया और श्रौत यज्ञों का अधिकार तो केवल गृहस्थ को ही दिया गया, अन्य किसी आश्रम को नहीं।

४–ज्ञान एवं विज्ञान का अविनाभाव

---

८० शतपथ ब्राह्मण १४.४.४.३

४.१ यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि यद्यपि ज्ञान और कर्म का स्वभाव भिन्न-भिन्न है, तथापि दोनों का एक दूसरे के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। जहां ज्ञान है, वहां कर्म है, जहां कर्म है वहां ज्ञान है- **अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।**[८१] विद्या, अमृत, ज्ञान पर्यायवाची हैं तथा अविद्या, मृत्यु और कर्म पर्यायवाची हैं। आगम में इन्हें ही शिव और शक्ति कहा गया है।

इमे ज्ञानकर्मणी निरु क्तया दिशा स्वभावतः पृथग्भूते अपि अन्योन्यमोतप्रोते, नानयोरन्येन विनान्यदवतिष्ठतो इमे एव ज्ञानकर्मणी आगमशास्त्रेषु शिवशक्ती इत्युच्येते। ज्ञानं शिवः, कर्म च तच्छक्तिः। शक्तिशक्तिमतोश्चाविनाभावः।[८२]

५-विश्लेषणपरकता तथा अन्तर्दृष्टि

५.१ आधुनिक समय में ज्ञान और विज्ञान के इस अविनाभावसम्बन्ध को अनेक प्रकार से स्पष्ट किया गया है। आधुनिक खोजों से यह स्पष्ट हुआ है कि हमारे मस्तिष्क के दो भाग हैं-

हमारे मस्तिष्क का बाँया भाग पूर्वापररूप में विश्लेषण करने में अधिक कुशल है। इसका काम सूचनाओं को सरल रेखाकार क्रमिक रूप में व्यवस्थित करना है। मस्तिष्क का दाहिना भाग, जो बाँये भाग का नियंत्रित करता है, मुख्यतः समग्रता से विचार करता है जो कि संश्लेषण के लिए अधिक उपयुक्त है और जो सूचनाओं को फैला कर युगपद् देखता है।[८३]

---

८१ शतपथ ब्राह्मण १०.५.२.४

८२ महर्षिकुलवैभवम्, उपोद्घात पृ.५

८३ Left hemisphere, which seems to be more specialized in analytic, linear thinking which involves processing information sequentially;

५.२ विश्लेषणपरक विचार और समग्रतापरक अन्तर्दृष्टि के बीच समन्वय ही हमें परिपूर्णता तक ले जाता है। विश्लेषण पर बल देने वाला आधुनिक विज्ञान इस बात को समझने लगा है कि विश्लेषण की प्रक्रिया में जब हम 'विभेद, विभाजन, तुलना, नाप–तोल और वर्गीकरण'[८४] करते हैं तो हम पदार्थ के समस्त पक्षों को न लेकर कुछ चुने हुए पक्षों को ही लेते हैं।[८५] परिणामत: पदार्थ का स्वरूप असंगत और परस्पर विरोधी प्रतीत होता है।[८६] यह असंगति और विरोध तभी दूर हो सकता है जब अन्तर्दृष्टि और विश्लेषण के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सके, यद्यपि यह कार्य सरल नहीं है।[८७]

---

the right hemisphere, controlling the left side seems to function predominantly in a holistic mode that is appropriate for synthesis and tends to process information more diffusely and simultaneously. **Fritjof Capra, The Turning Point.** P.293.

८४ Rational knowledge is derived from the experience we have with objects and events in our everday environment. It belongs to the realm of the intellect whose function is to discriminate, divide, compare, measure and categorize. **Fritjof Copra, The Tao of Physics,** p.34.

८५ In order to compare and to classify the immense variety of shapes, structures and phenomena around us we cannot take all their features into account, but have to select a few significant ones. **The Tao of Physics,** p.34

८६ Quantum theory thus reveals a basic oneness of the universe, It shows that we cannot decompose the world into independently existing smallest units. **The Tao of Physics,** p.78

८७ To overcome the gap between rational, analytical thinking and the meditative experience of mystical truth, was, and still is , very difficult for me. **The Tao of Physics,** p.12.

६-क्वान्टम सिद्धान्त तथा एकत्व

६.१ उन्नीसवीं शताब्दी के परमाणुवाद का स्थान आज क्वाण्टम सिद्धान्त ने ले लिया है। परमाणुवाद का आधार यह था कि यदि हम पदार्थ को खंडित करते चले जायें तो हमें पदार्थ का एक ऐसा खण्ड प्राप्त होगा जिसका आगे विभाजन नहीं हो सकता। पदार्थ का यही अविभाज्य लघुतम खण्ड परमाणु है और इन्हीं परमाणुओं को जोड़-जोड़कर विश्व का निर्माण हुआ है। इसके विपरीत क्वाण्टम सिद्धान्त ने यह बताया कि सम्पूर्ण विश्व एक अखण्ड इकाई है।[८८] ऐसी स्थिति में अनेक के विशिष्ट ज्ञान के साथ एक का संश्लिष्ट ज्ञान भी आवश्यक हो गया और विज्ञान के साथ ज्ञान की अपरिहार्यता भी उजागर हो गई।

७- विविधता में एकता: वाक्, मन, प्राण की त्रिपुटी की सहभाविता

७.१ विविधता के बीच जो एकता है उसे शतपथ में आत्मा शब्द द्वारा कहा गया है- **अत्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति तदेतत् पदनीयं सर्वस्य यदयमात्मा**[८९] इसी आत्मा की व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण कहता है।-**अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः।**[९०] वाक्, मन और प्राण की त्रिपुटी ही आत्मा है। इस वाक्, मन और प्राण की त्रिपुटी का व्याख्यान शतपथ ब्राह्मण में बहुत विस्तार से हुआ है-

यही आत्मा तीन लोक है। वाक् यह लोक है, मन अन्तरिक्ष और प्राण द्यौ लोक हैं। यही आत्मा तीन वेद हैं। वाक् ऋग्वेद है, मन

---

८८ Whenever the essential nature of things is analysed by the intellect, it must seem absurd or paradoxical. **The Tao of Physics,** p.58.

८९ शतपथ ब्राह्मण १४.४.२.१८

९० वही, १४.४.३.१०

यजुर्वेद है, प्राण सामवेद है। देव, पितर और मनुष्य यही आत्मा है। वाक् देव है, मन पितर है, प्राण मनुष्य है। पिता, माता तथा प्रजा यही आत्मा है। मन पिता है, वाक् माता है, प्राण प्रजा है।[९१]

७.२ वाक् प्राण तथा मन की त्रिपुटी के उपर्युक्त विस्तार में यह बात ध्यान देने योग्य है कि यहां वाक्, प्राण और मन तीनों का अविनाभाव अत्यन्त स्पष्ट रूप में ध्वनित होता है। पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ लोक अन्योन्य सापेक्ष हैं। पुत्र के बिना पिता संज्ञा नहीं हो सकती, पिता के बिना पुत्र संज्ञा नहीं हो सकती। माता के बिना पिता संज्ञा नहीं हो सकती, पिता के बिना माता संज्ञा नहीं हो सकती। वाक्, मन और प्राण का यह अन्तरान्तरीभाव इस बात का सूचक है कि इन तीनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। इस अविनाभावसम्बन्ध के कारण ही ज्ञान और विज्ञान का समन्वय सम्भव है। विज्ञान को सामान्यतः भौतिकविज्ञान कहा जाता है जबकि ज्ञान का सम्बन्ध चेतना से है। यदि हम जड और चेतन को

---

९१ शतपथ ब्राह्मण, १४.४.३.११-१४ त्रयो लोका एत एव। वागेवायं लोको मनोऽन्तरिश्चलोकः प्राणोऽसौ लोकः। त्रयो वेदा एत एव। वागेवग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः। देवाः पितरो मनुष्या एत एव। वागेव देवा मनः पितरः प्राणो मनुष्यः। पिता माता प्रजैत एव। मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा।
त्रिपुटी का यह विस्तार मन्त्रमूलक है, क्योंकि यजुर्वेद भी कहता है-
ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये सामः प्राणं प्रपद्ये (यजुर्वेद ३६.१)
गीता में वाक्, प्राण, मन की इसी त्रिपुटी को क्षर, अक्षर तथा अव्यय पुरुष कहा है-
द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः- गीता १५/१७
दार्शनिक युग में यही त्रिपुटी तमस् रजस् तथा सत्त्व नाम के तीन गुणों के रूप में अभिव्यक्त हुई।

मौलिक रूप में दो भिन्न कोटियां माने तो ज्ञान और विज्ञान दोनों परस्पर सम्बद्ध नहीं हो सकेंगे। किन्तु वेद की दृष्टि में क्योंकि आत्मा सर्वव्यापक है, इसलिए जड कुछ भी नहीं है जड तथा चेतन का भेद मौलिक न होकर व्यावहारिक है।

८- वाक् की चेतना

८.१ यदि हम वैदिक परम्परा में प्रयुक्त वाक्, प्राण और मन शब्दों पर विचार करें तो यह स्पष्ट होगा कि इन तीनों ही घटकों में चेतना ध्वनित हो रही है। वाक् भी बिना चेतना के संभव नहीं है-**मनसैव वाग्भृता।**[९२] ऐतरेय-आरण्यक में वाक् को मन का रेतस् कहा है- **मनसो रेतो वाक्**।[९३] इस प्रकार वाक् यद्यपि भूत का सूचक है किन्तु वह मन से वियुक्त नहीं है। **ऐतरेय ब्राह्मण** में वाक् ओर मन को दिव्य -मिथुन बताया गया है- **वाक् च वै मनश्च देवानां मिथुनम्।**[९४] **जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण** में तो वाक् और मन के बीच तादात्म्य सम्बन्ध ही मान लिया गया है- **वागिति मनः**।[९५] इन सभी प्रमाणों से एक बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि वाक् सर्वत्र मनोयुक्त है। आधुनिक भाषा में कहें तो मैटर में सर्वत्र माइन्ड उपस्थित है।

९- प्राण की चेतना

९.१ यही स्थिति प्राण की है। प्राण भौतिक वैज्ञानिकों की एनर्जी नहीं है। प्राण को **युंग** की शब्दावली में **''साइकिक एनर्जी''**[९६] कहना अधिक उपयुक्त होगा। शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट कहता है- **इमे वै प्राणा**

---

९२ कपिष्ठल कठ संहिता, ३७.४

९३ ऐतरेय आरण्यक, २.१.३

९४ ऐतरेय ब्राह्मण, ५.२३

९५ जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण, ४.११.१.११

96 Fritjof Capra, Uncommon Wisdom, *p.168*

मनोजाताः मनोयुजः ।[९७] षड्विंश-ब्राह्मण ने तो मन को प्राण का आधा भाग ही बता दिया है- **अर्ध भाग् वै मनः प्राणानाम्।**[९८] वस्तुतः ऐसे वक्तव्य वैदिक वाङ्मय में अनेकानेक हैं जिनसे मन और प्राण का सम्बन्ध स्पष्ट होता है- **मन इदं सर्वमेकं भूत्वा प्राणे प्रतिष्ठितम्**[९९] **मनसा हि प्राणो धृतः**[१००] **मनसैव प्राणमाप्नोति**[१०१]**, मनो वा अनुप्राणाः**[१०२] **मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः**[१०३]**।**

१०- पाषाण में भी अव्यक्त प्राण तथा मन

१०.१ मन, प्राण और वाक् के इसी अविनाभाव सम्बन्ध के कारण वेद पाषाणों को भी सम्बोधित करता है- **शृणोतु ग्रावाणः।**[१०४] वेद यह मानता है कि पाषाण में वाक् और प्राण अर्थात् मैटर और एनर्जी दोनों तो उपस्थित हैं ही, किन्तु इसके साथ ही मन अर्थात् माइन्ड भी है भले ही वह व्यक्त न हो। क्रम इस प्रकार है-

१. पशु पक्षी आदि ससंज्ञ हैं। उनमें मन, प्राण, वाक् तीनों व्यक्त हैं।

२. वनस्पति अन्तः संज्ञ हैं उनमें प्राण और वाक् व्यक्त हैं, मन अव्यक्त है।

३. पाषाण असंज्ञ है, उसमें केवल वाक् व्यक्त है, प्राण तथा मन दोनों अव्यक्त हैं।

---

९७ शतपथ, ३.२.२.१३

९८ षड्विंश ब्राह्मण, १.५

९९ जैमिनीय ब्राह्मण, ३.३७१

१०० कपिष्ठल कठ संहिता, ४२.१

१०१ मैत्रायणी संहिता, ४.५.५

१०२ जैमिनीय ब्राह्मण,१.१६

१०३ शतपथ ब्राह्मण,१४.३.२.३

१०४ तैत्तिरीय संहिता, १.३.१३.१

सर जगदीशचन्द्र बोस की खोज के बाद अब वनस्पति में प्राण अथवा मन के अस्तित्व के सम्बन्ध में विज्ञान को भी कोई सन्देह नहीं रह गया।

११-जड निष्क्रिय नहीं है

११.१विशेष बात यह है कि वेद विज्ञान की उपर्युक्त मान्यता को यदि हम आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में देखें तो हमें पता चलेगा कि आधुनिक विज्ञान वाक् और प्राण से आगे मनस् तत्त्व को भी अपने में समेटने लगा है। '' पदार्थ बिल्कुल ही निष्क्रिय तथा उदासीन नहीं है अपितु निरन्तर नृत्य तथा कम्पमान गति की स्थिति में हैं।''[१०५] दूसरे शब्दों में वाक् में सदा प्राण रहता है। यह वाक् और प्राण का परस्पर सम्बन्ध हुआ।

१२-जड भी समझदार है

१२.१ पदार्थ और मन का सम्बन्ध स्थापित करते हुए ''भौतिक शास्त्री यह तर्क करते हैं कि चेतना विश्व का अपरिहार्य पक्ष है और यदि हम चेतना का बहिष्कार करना चाहेंगे तो प्रकृति के स्वभाव को और अधिक समझने का मार्ग अवरुद्ध हो जायेगा।[१०६] कारण स्पष्ट है। यदि वाक्, प्राण और मन तीनों ही मूलत: एक तत्त्व की तीन स्थितियों का नाम

---

१०५ Matter not at all as passive and inert but as being in a continuous dancing and vibrating motion whose rhythmic patterns are determined by the molecular, atomic and nuclear configurations. **The Turning Point,** p.88

१०६ Physicists argue that consciousness may be an essential aspect of the universe, and that we may be blocked from further understanding of natural phenomena if we insist on excluding it. **The Turning Point,** p.95

है तो तीनों स्थितियों में से किसी एक स्थिति को हम तब तक पूरी तरह नहीं समझ सकते जब तक उसके साथ जुड़ी हुई शेष दो स्थितियों को भी नहीं समझ लेते। ''डेकार्ट का यह विश्वास कि मन और पदार्थ दो मौलिक रूप से भिन्न तत्त्व हैं, आज ठीक प्रतीत नहीं होता है। कहना यह चाहिये कि वे एक ही सार्वभौम प्रक्रिया के दो भिन्न पक्ष हैं।[१०७] ''सापेक्षता के सिद्धान्त के कारण विश्व का ताना बाना आज सजीव हो उठा है''।[१०८] जिस प्रकार सापेक्षता का सिद्धान्त विश्व को निर्जीव मानने के विरोध में जाता है उसी प्रकार ''क्वाण्टम सिद्धान्त का पूर्ण तर्कसंगत प्रतिपादन चेतना के विचार किये बिना संभव नहीं है।[१०९] हम यह समझते जा रहे हैं कि पर्यावरण केवल सजीव ही नहीं है हमारी तरह समझदार भी है।[११०] यही मनस् तत्त्व पिण्ड में मन कहलाता है, किन्तु ब्रह्माण्ड के प्रसंग में इसे ही ईश्वर कहा जाता है। वह न पुरुष है न स्त्री, उसका कोई व्यक्तिगत रूप नहीं है, किन्तु वह समस्त ब्रह्माण्ड की स्वयं में निहित व्यवस्थापक शक्ति है''[१११] आज के विज्ञान में जड और चेतन का भेद समाप्त होता जा रहा है।[११२]

---

१०७ Mind and matter no longer appear to belong to two fundamentally separate categories, as Decarte believed but can be seen to represent merely different aspects of the same universal process. **The Turning Point,** p.290

१०८ Relativity theory has made the cosmis web come alive, so to speak by revealing its intrinsically dynamic character; by showing that its activity is the very essence of its being. **The Turning Point,** p.92

१०९ It was not possible to formulate the law of quantum theory in a fully consistent way without reference to consciousness. **The Turning Point,** p.173

११० We realize that the environment is not only alive but also mindful, like ourselves. **The Turning Point,** p. 291

१११ God is not the creator, but the mind of universe. In this view the deity is, of course, neither male nor female, nor manifest in any

बटेसन जैसे वैज्ञानिक कहते हैं कि, ''मुझे कहीं भी अव्यवस्थित पदार्थ नहीं दिखाई देता''[११३] ''सभी सजीव पिण्ड स्वयं व्यवस्थित होने वाली व्यवस्था के अन्तर्गत हैं, अर्थात् बाहर से उन पर कोई व्यवस्था थोपनी नहीं है, व्यवस्था उनमें अन्तर्निहित है।[११४] बटेसन को यह व्यवस्था मूलतः पदार्थ में मन की उपस्थिति के कारण प्रतीत होती है। उसके अनुसार मन और पदार्थ की यह एकता न यान्त्रिक है, न अतिप्राकृतिक।[११५]

---

personal form but represents nothing less than the self-organizing dynamics of the entire cosmos. **The Turning Point,** p.292

११२ The further we penetrate into the submicroscopic world, the more we shall realize how the modern physicist, like the Eastern mystic, has come to see the world as a system of inseparable, interacting and evermoving components with the observer being an integral part of this system. **The Tao of Physics,** p.30

११३ **I (Bateson)** know nothing about unorganized matter, if there be any …. Bateson would always insist that he was a monist, that he was developing a scientific description of the world which did not split the universe dualistically into mind and matter or into any other separate realities. He often pointed out that Judeo- Christian religion, while boasting of monism was essentially dualistic because it separated God from his creation. **Uncommon Wisdom,** 85.

११४ A living organism is a self-organizing system which means that its order is not imposed by the environment but is established by the system itself. In other words, self-organizing system, exhibit a certain degree of autonomy. This does not means that they are isolated from their environment; on the contrary, they interact with it continually, but this interaction does not determine their organization, they are self-organizing. **Uncommon Wisdom,** p. 87.

११५ From that moment on my understanding of the relationship between mind and life, or mind and nature, as Bateson would put it, continued to deepen, and with it came an increased appreciation of

यह व्यवस्था सार्वभौम है जो परा-परमाणु से लेकर आकाशगंगा तक तथा बेक्टीरिया से लेकर मनुष्य तक सर्वत्र उपलब्ध होती है और जो सार्वभौम मन की सूचक है।[११६]

१३-चट्टान भी सजीव

१३.१ऊपर हमने वेद विज्ञानानुसार पत्थर में भी मन की उपस्थिति की बात कही है, आज के वैज्ञानिक उसी बात को उन्हीं शब्दों में दोहराते हुए व्याख्या करते हैं, ''चट्टान सजीव समझदार विश्व का अंग होने के नाते उस बृहत्तर चेतना में भागीदार बनते हैं.. जिन्होंने चट्टान अथवा वृक्ष में भी चेतना का अनुभव किया है वे विश्व को इस रूप में नहीं देखते हैं कि उसमें पदार्थ भरे हुए हैं और उन पदार्थों में चेतना है बल्कि इस रूप में देखते हैं कि सर्वत्र चेतना है जिससे पदार्थ ओतप्रोत है।[११७]

---

the richness and beauty of Bateson's thought. I realized fully why it was impossible for him to separate mind and matter. Bateson looked at the living world, he saw its principles of organization as being essentially mental, with mind being immanent in matter at all levels of life. He thus arrived at unique synthesis of notions of mind with notions of matter; a synthesis that was, as he liked to point out, neither mechanical nor supernatural. **Uncommon Wisdom,** p.88.

११६ All its structures form subatomic Particles to galaxies and from bacteria to human being are manifestations of the universal dynamics of self organization, which means the cosmic mind, **Uncommon Wisdom,** p.143.

११७ From the perspective of seeing it as part of a larger system, the universe, which is mindful and conscious, I would say that the rock like everything else, participates in that larger consciousness…. When people experience the consciousness of a plant or a rock they do not see the world as being full of objects and then add

हाइजनबर्ग का कहना है कि विज्ञान में प्रकृति का वर्णन ही नहीं रहता प्रत्युत उसमें प्रकृति के और हमारे बीच अन्त: क्रिया भी निहित रहती है।

१४-मन तथा शरीर में द्वन्द्व नहीं

१४.१ वाक्, प्राण और मन एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं। उन्नीसवीं शताब्दी तक विज्ञान में शरीर और मन को अलग-अलग समझा जाता और यह माना जाता रहा कि शरीर एक बाहरी खोल है तथा मन उसके अन्दर रहने वाला तत्त्व है जो उस शरीर को नियन्त्रित करता है। इस शरीर और मन के द्वैत ने दोनों के बीच एक संघर्ष उत्पन्न कर दिया ।[११८]

१५-समग्रदृष्टि तथा क्वान्टम सिद्धान्त

१५.१ वेद विज्ञान की यह विशेषता है कि वह ज्ञान से जुड़ा है। इसलिए उसमें जहां विविधता का विवरण है वहां ''**एकं वा इदं विबभूव सर्वम्**''[११९] की श्रुति का अनुकरण करते हुए विविधता के मूल में निहित एकत्व की भी उपेक्षा नहीं की गई है। प्रजा विविध है, किन्तु प्रजापति एक ही है- **प्रजापतिर्वा एक:**''[१२०] इस एकत्वोन्मुखता ने वेद विज्ञान को समग्रदृष्टि प्रदान की। आधुनिक विज्ञान में इस समग्रदृष्टि की बहुत चर्चा है। विज्ञान के क्षेत्र में समग्रदृष्टि का प्रवेश क्वाण्टम सिद्धान्त के प्रवेश के साथ हुआ- ''परम्परागत यान्त्रिकी में अवयव के गुण-धर्म और व्यवहार के आधार पर अवयवी का स्वरूप निश्चित किया जा सकता है, किन्तु

---

consciousness to that Cartesian universe. They would start out from a fabric of conscious states out of which the Cartesian reality is then, somehow orchestrated. **Uncommon Wisdom,** p.148

११८ As a consequence of the Cartesian division, most individuals are aware of themselves as isolated egos existing 'inside' their bodies. The mind has been separated from the body and given the futile task of controlling it. **The Tao of Physics,** p.28

११९ ऋग्वेद, ६.४.२९

१२० तैत्तिरीय संहिता, ३.८.१६.१

क्वाण्टम सिद्धान्त इसके विपरीत स्थिति है। वहां अवयवी के आधार पर अवयवों के व्यवहार का निश्चय किया जाता है''।[१२१]

१६- विश्व की सजीवतामूलक व्याख्या

१६.१ क्वाण्टम सिद्धान्त से पूर्व विज्ञान न्यूटन के यान्त्रिक दृष्टिकोण को मानता था। इस यान्त्रिक दृष्टिकोण के अनुसार अवयवों को जोड़-जोड़ कर अवयवी का निर्माण होता है। किसी यन्त्र के बनाने की यही प्रक्रिया है। किन्तु बीज से वृक्ष बनने की प्रक्रिया इससे विपरीत है। एक ही बीज से वृक्ष के भिन्न-भिन्न अवयव शनैःशनैः विकसित होते हैं और इसलिए वे अवयव एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध होते हैं। क्वाण्टम सिद्धान्त के बाद विश्व का यही स्वरूप माना जा रहा है। इस एकता मूलक समग्र दृष्टि ने अनेक द्वैतों को समाप्त कर दिया। शरीर और मन के बीच का द्वैत, जड और चेतन के बीच का द्वैत कुछ इसी प्रकार का द्वैत है। इन द्वैतों के समाप्त होने से चिकित्सा के क्षेत्र में यह दृष्टि आ रही है कि चिकित्सा किसी एक रोग विशेष को नहीं प्रत्युत पूरे रोगी की होनी चाहिए। भारत वर्ष में आयुर्वेद की यही दृष्टि है। पश्चिम में भी प्राकृतिक चिकित्सा और होम्योपैथी की चिकित्सा पद्धतियों में यही दृष्टि रहती है।

१७-यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे

१७.१ अवयव में पूर्ण अवयवी प्रतिबिम्बित रहता है इसलिए अवयव को अर्थात् व्यष्टि को देखकर अवयवी अर्थात् समष्टि का अनुमान किया जा सकता है। वेदविज्ञान का यही सिद्धान्त ''यथा पिण्डे तथा

---

१२१ In classical mechanics the properties and behavior of the parts determine those of the whole, the situation is reversed in quantum mechanics; it is the whole that determines the behavior of the parts; **The Turning Point.** P. 86

क्वान्टम का अर्थ ऊर्जा समूह है। क्वान्टम सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ परमाणुओं को जोड़कर नहीं बना है, प्रत्युत ऊर्जा-समूहों के ताने-बाने का परिणाम है।

ब्रह्माण्डे'' की प्रसिद्ध उक्ति में प्रकट होता है। हमारे व्यष्टि के स्तर पर पाँच स्तर हैं–

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिबुर्द्धेरात्मा महान्परः
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।[१२२]

इसी क्रम में विश्व के भी पाँच पर्व हैं– शरीर के समानान्तर पृथिवी, मन के समानान्तर चन्द्रमा, बुद्धि के समानान्तर सूर्य, महत् के समानान्तर परमेष्ठी और स्वयम्भू के समानान्तर अव्यक्त।[१२३] आधुनिक विज्ञान पिण्ड और ब्रह्माण्ड के बीच इतनी समानान्तरता अभी भले ही न देख पाया हो, किन्तु दो तथ्यों को अवश्य रेखांकित कर पाया है– १. परमाणु और सौरमण्डल की समानान्तरता तथा, २. सूक्ष्म स्तर और बृहत्स्तर पर काम करने वाले नियमों की समानान्तरता।

''नाभिकीय के चारों ओर इलेक्ट्रॉन परिभ्रमण करते हैं। नाभिकीय और इलेक्ट्रॉन''के बीच का अन्तराल वैसा ही है जैसा अन्तराल सूर्य के चारों ओर परिभ्रमण करने वाले ग्रहों का है।[१२४]

१८–उपसंहार

१८.१ आज के भौतिक विज्ञान तथा वेद विज्ञान के बीच इस प्रकार दृष्टिकोण की समानता ज्ञान और विज्ञान के बीच गहरे सम्बन्ध को

---

१२२ कठोपनिषद् १,१.३.१०

१२३ तुलनीय, शतपथ ब्राह्मण, १०.१.६.१४–२०

१२४ The electrons circulate round this nucleus as planets circulate round a sun; and the spaces between nucleus and electrons are, comparatively as vast as those between our planets. **Joseph Mocabe, Marvales of Physics,** p.45.

पुष्ट करती है। यदि अनेक में एक ओतप्रोत है तो विश्लेषण प्रधान विज्ञान को भी अन्ततोगत्वा इस ओत-प्रोत एकता को पहचान ही लेना होगा।

१८.२ पर्यावरण की चिन्ता तथा समग्र-दृष्टि आदि कुछ बिन्दु तो भौतिक वैज्ञानिक को भी वेद-विज्ञान के निकट ला रहे हैं, परा-परमाणु स्तर पर होने वाले अनुसंधान भी भौतिक-विज्ञान तथा वेद-विज्ञान के बीच की सीमा रेखा को तोड़ रहे हैं। जिस दिन वेद-विज्ञान तथा भौतिक विज्ञान समन्वित हो जायेंगे उस दिन ही वैदिक ऋषि की विद्या तथा अविद्या,सम्भूति तथा असम्भूति, ज्ञान तथा कर्म के सामंजस्य की कल्पना साकार होगी। आज की भाषा में उस दिन पूर्व तथा पश्चिम एवं धर्म तथा विज्ञान के बीच की खाई पट जायेगी। उस दिन मानव कवल मृत्यु को ही नहीं जीतेगा, अमृत को भी उपलब्ध कर लेगा- **विज्ञानेन मृत्युं तीर्त्वा ज्ञानेनामृतमश्नुते।**

❐❐❐

वैध यज्ञों की प्रासङ्गिकता

[यह लेख सोमयाग के विशेष सन्दर्भ में लिखा गया है]

यज्ञ का मूल–मनःशक्ति अथवा मन्त्रशक्ति

वर्तमान युग में आईन्स्टीन की यह खोज विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी मानी जाती है कि ऊर्जा पदार्थ में और पदार्थ ऊर्जा में बदल सकता है। आईन्स्टीन का सूत्र है–$E=MC^2$। दूसरी ओर यज्ञ की परिभाषा देते हुए महर्षि ऐतरेय ने कहा है कि पदार्थ का मन में और मन का पदार्थ में बदल जाना यज्ञ है – **वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरि क्रमो यद्यज्ञः**।[१२५] आईन्स्टीन प्राण के पदार्थ में और पदार्थ के प्राण में बदलने की बात तो करते हैं, लेकिन महर्षि ऐतरेय आईन्स्टीन से एक कदम आगे जाकर तीन सोपानों का उल्लेख है– मन की कामना, प्राण का अन्तर्व्यापार अथवा तप तथा वाक् बहिर्व्यापार अथवा श्रम।[१२६] मन की कामना प्राण में तप उत्पन्न करती है, प्राण का तप पदार्थ का सर्जन कर देता है। प्राण मन और पदार्थ के बीच की कड़ी है, जो एक ओर मन से जुड़ी है तो दूसरी ओर पदार्थ से।[१२७] इसलिए यज्ञ को संकल्पमूलक कहा गया है– **यज्ञाः संकल्पसंभवाः।** इसलिए यज्ञ, के प्रारम्भ में सर्वप्रथम संकल्प किया जाता है, तदनन्तर मन्त्रोच्चार होता है। मन की शक्ति का ही मूर्त रूप मन्त्र है– मननात् मन्त्रः। मन्त्रोच्चार के साथ अपूर्वोत्पत्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती

---

125 ऐतरेय आरण्यक २.३.३.१५

१२६ प्रजापतिरकामयत, सोऽश्राम्यत्, स तपोऽतप्यत्–शतपथ ६.१.१.८

१२७ प्राण एव रज्जुः। प्राणेन हि मनश्च वाक् चाभिहिते–शतपथ ३.१.४.२

है। इसलिए मन को प्रजापति कहा गया है। देव मन्त्रों के अधीन हैं। प्राण का ही दूसरा नाम देव है।[१२८] विज्ञान की भाषा में कहें तो मन की शक्ति का प्रयोग प्राणों को सक्रिय कर देता है। यह सक्रिय प्राण ही पदार्थ का निर्माण करता है।

चेतना ऊर्जा अथवा देवशक्ति की सर्जनात्मकता

ऊपर की प्रक्रिया से यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान विज्ञान प्राण और पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध को जानता है, किन्तु यज्ञ विज्ञान उससे एक कदम आगे जाकर मन और प्राण के सम्बन्ध को भी बताता है। आधुनिक काल में मन की शक्ति पर अनेक अनुसन्धान हो रहे हैं। ऊर्जा जगत् में चेतना का क्या योगदान हो सकता है- यह विचार भी आधुनिक विज्ञान के लिये नई दिशा प्रदान कर सकता है।

अन्न से मन : पदार्थ तथा मन का अद्वैत

जहाँ मन प्राण के माध्यम से पदार्थ को गतिमान् करता है, वहाँ पदार्थ भी अन्न के रूप में जैविक प्रक्रिया द्वारा मन को जन्म देता है।[१२९] वर्तमान आहार विज्ञान भोजन में किन-किन तत्त्वों के होने से शरीर पर क्या-क्या प्रभाव पड़ेगा, यह विचार तो करता है, किन्तु यह विचार नही करता कि किस-किस आहार का मन पर क्या-क्या प्रभाव पड़ता है। यह विचार भारतीय परम्परा में बहुत विस्तार से किया गया है। अन्न किस प्रकार रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र बनाता हुआ ओज तथा मन में परिणत होता है, यह अध्यात्म यज्ञ का विषय है।[१३०] मन का

---

१२८ तस्मात्प्राणा देवाः-शतपथ ७.५.१.२१
प्राणा वै देवाः-मैत्रायणी संहिता ३.२.१

१२९ अन्नमयं हि सौम्य मनः-छान्दोग्योपनिषद् ५.४

१३० रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मदोस्ततोऽस्थि च।
अस्थ्नो मज्जा ततः शुक्रं शुक्राद् गर्भः प्रसादजः- चरक, चिकित्सास्थान १५/१४

प्राण में परिणत होना अधिदैव यज्ञ है और प्राण का भूत में परिणत होना अधिभूत यज्ञ है।

पदार्थ के तीन घटक : अग्नि, वायु, आदित्य

आधुनिक विज्ञान में प्रत्येक पदार्थ में ऊर्जा तो मानी जाती है, किन्तु उस ऊर्जा के पीछे ज्ञान भी है, इस पर विचार नहीं होता। जबकि यज्ञ विज्ञान के अनुसार कोई पदार्थ क्रिया के बिना और कोई क्रिया ज्ञान के बिना नहीं है। यज्ञ की भाषा में कहें तो प्रत्येक पदार्थ में पृथ्वी स्थानीय अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थानीय वायु और द्यु-स्थानीय आदित्य का योगदान है। धातु जगत् में शरीर व्यक्त रहता है, क्रिया और ज्ञान अव्यक्त। वनस्पति जगत् में शरीर और क्रिया दोनों व्यक्त हो जाते हैं, ज्ञान अव्यक्त रहता है और पशु जगत् में शरीर, क्रिया और ज्ञान तीनों व्यक्त हो जाते हैं। जगदीश चन्द बोस के अनुसन्धान के अनन्तर वनस्पति जगत् में होने वाली क्रिया के आधार पर ज्ञान की सत्ता मान ली गई, किन्तु धातु जगत् में क्योंकि ज्ञान और क्रिया दोनों ही अव्यक्त रहते हैं, इसलिए आधुनिक विज्ञान वहाँ ज्ञान को मानने को तैयार नहीं है। इसी मान्यता के कारण यज्ञ में बोले जाने वाले ''शृण्वन्तु ग्रावाणः'' इत्यादि वाक्य निरर्थक तथा जडपूजा एवं अन्धविश्वास के अङ्ग प्रतीत होते हैं। यज्ञ-विज्ञान आधुनिक विज्ञान के लिए इस रूप में एक चुनौती ही है कि वह संसार में किसी चीज को इस अर्थ में जड मानता ही नहीं कि उसमें ज्ञान नहीं है।

अनेकता में एकता

विज्ञान विश्लेषण पर टिका है। यज्ञ-विज्ञान का आधार ब्रह्म ज्ञान है। ब्रह्म ज्ञान संश्लिष्ट दृष्टि अनेकता में एकता स्थापित करती है। इस प्रकार यज्ञ आधुनिक विज्ञान का परिपूरक है।[१३१] विज्ञान जहाँ हमें प्रत्येक पदार्थ

---

131 In classical machanics the properties and behavior of the parts determine those of the whole, the situation is reversed in uantum machanics: it is the whole that determines the behavior of the parts- The Turning Point P. 86.

के गुण धर्म बताता है, वहाँ यज्ञ यह सूचित करता है कि अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण पदार्थ भिन्न होने के कारण भी मूलतः एकता के सूत्र में जुड़े हुए हैं। एक ही तत्त्व अपने घन, तरल और विरल रूप में अग्नि, वायु और आदित्य बन जाते हैं। इस प्रकार विज्ञान जहाँ विश्लेषण की दृष्टि देता है, यज्ञ अखण्डता की दृष्टि देता है।

विरोध नहीं, परिपूरकता-

इस अखण्डता की दृष्टि के कारण यज्ञ की दार्शनिक पृष्ठभूमि में कहीं कोई विरोध नहीं है। इन्द्र-वृत्र तथा मित्र-वरुण के उदाहरण को देखें। वरुण भी असुर है, वृत्र भी असुर है, किन्तु मित्र के साथ अविरोध रखने के कारण वरुण देवत्व को ही प्राप्त हो जाता है। दूसरी ओर वृत्र इन्द्र के प्रति शत्रु भाव रखने के कारण जघन्यता को प्राप्त होता है । वृत्र या वरुण राजशक्ति के प्रतीक हैं। इन्द्र या मित्र रूप यज्ञशक्ति शक्ति से नियन्त्रित रहती है। वह मर्यादित रहती है और सम्मान की पात्र है। किन्तु ब्रह्म शक्ति के नियन्त्रण के बाहर होते ही वह निरंकुश होने के कारण जघन्य हो जाती है।

रासायनिक पक्रिया से अपूर्व की उत्पत्ति : सोमयाग-

वैदिक यज्ञों की सामान्य पृष्ठभूमि की प्रासंगिकता पर विचार करने के अनन्तर हम सोमयाग की प्रासंगिकता को देखें। अग्नि में सोम की आहुति सोमयाग का मूल रूप है। अग्नि और सोम आणविक स्तर पर घन और ऋण का, जैविक स्तर पर पुरुष और स्त्री का तथा पर्यावरण के स्तर पर उष्ण और शीत का उपलक्षण है। सोमयाग का सन्दर्भ यह है कि दो परस्पर विरोधी तत्त्वों के संगतीकरण से एक तृतीय नवीन अपूर्व की उत्पत्ति होती है। यज्ञ शाला में हम वैध यज्ञ करते हैं। वह प्रकृति में चलने वाले यज्ञ का अनुकरण मात्र है। प्रकृति में कोई भी नया पदार्थ तभी उत्पन्न होता है, जब दो पदार्थों में परस्पर रासायनिक सम्बन्ध हो। वैदिक भाषा में इस रासायनिक सम्बन्ध को अन्तर्याम सम्बन्ध कहते हैं। जब दो पदार्थो में

रासायनिक सम्बन्ध होता है, तो एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को आत्मसात् कर लेता है। यज्ञ की भाषा में एक पदार्थ अन्नाद हो जाता है, दूसरा अन्न। अन्नाद को अग्नि कहते हैं तथा अन्न को सोम। सृष्टि के समस्त पदार्थ अन्न भी हैं, अन्नाद भी हैं। अन्न के रूप में वे सोम हैं, अन्नाद के रूप में वे अग्नि हैं। इसलिए जाबालोपनिषद् ने जगत् को अग्नीषोमात्मक कहा है। चाहे वनस्पति जगत् हो चाहे प्राणी जगत्, सर्वत्र यह सोमयज्ञ चल रहा है। हमारी जठराग्नि में भोजन सोम के रूप में जा रहा है। वनस्पतियों की जड़ में जल सोम के रूप में जा रहा है। अग्नि का एक नाम रुद्र है। अग्नि की बुभुक्षा उसका रुदन है। जिस रुदन के कारण अग्नि रुद्र कहलाती है। जब तक इस रुद्र पर सोम का अभिषेक होता रहता है, यह तृप्त होकर पदार्थ को वर्धमान रखती है। यही रुद्र का अघोर अर्थात् शिव रूप है। यदि रुद्र को सोम प्राप्त न हो तो वह रौद्र रूप धारण करके पदार्थ को भस्मसात् करने लगता है। यही उसका प्रलयंकर रूप है। तभी पदार्थों में रुद्र के रूप में अग्नि उपस्थित है और उस पदार्थ के चारों ओर आपः तत्त्व व्याप्त है। यह आपः ही सोम है। इसे ही वैदिक भाषा में आपोलोक और पौराणिक भाषा में क्षीरसागर कहा जाता है। क्षीरसागर में विष्णु शयन करते हैं। विष्णु वह प्राणशक्ति है, जो बाहर से पदार्थ को अन्दर की ओर लातो है। पदार्थ के केन्द्र में प्रज्वलित जीवन अग्नि में चारों ओर फैले हुए शक्ति के समुद्र से खींचकर विष्णु ही सोम की आहुति देते हैं। इसलिए वेदों में विष्णु को यज्ञ कहा गया है।

प्रवर्ग्य से सृष्टि : 'यज्ञचक्र'

सोम का जो अंश पदार्थ में आहुत होता है, वह सभी पदार्थ का अंग नहीं बन जाता । पदार्थ का अंश बन जाने वाला अंश 'ब्रह्मौदन' कहलाता है, शेष रहता हुआ अंश 'प्रवर्ग्य' कहलाता है। प्रवर्ग्य का ही दूसरा नाम यज्ञशेष अथवा उच्छिष्ट है। पौराणिक भाषा में इसे 'प्रसाद' कहते हैं। हमं प्रवर्ग्य ग्रहण करने का ही अधिकार है, ब्रह्मौदन का नहीं। ऊर्जा का बहुत बड़ा अंश सूर्य के निर्माण में काम आ जाता है, किन्तु ऊर्जा

का कुछ अंश सूर्य से छिटक कर हम तक आता है। यही हमारा केन्द्र बनता है। वह सूर्य का उच्छिष्ट अथवा प्रसाद है। इसी प्रकार गौ का प्रवर्ग्य उसका दूध तथा गोबर है। दूध हमारा आहार बनता है, गोबर वनस्पति का। वनस्पति भी अपने शरीर का निर्माण करने के अनन्तर कुछ फल, मूल और पत्तों को छोड़ देती है। फल –मूल हमारा आहार बनते है, पत्ते पशुओं का। इस प्रकार एक के प्रवर्ग्य से दूसरे का निर्माण होता है। कभी–कभी इस प्रवर्ग्य का अन्योन्य विनिमय हो जाता है। हमारी कार्बन डाईआक्साइड वृक्षों का आहार बनती है तथा वृक्षों की छोड़ी गई ऑक्सीजन हमारा आहार बनती है। यह यज्ञीय जीवन शैली आधुनिक सन्दर्भ में विशेष प्रासंगिक है क्योंकि मनुष्य अपने लालच में केवल प्रवर्ग्य से ही सन्तुष्ट न रह कर दूसरे के ब्रह्मौदन को छीनने का अपराध कर रहा है। पर्यावरण–प्रदूषण और प्रकृति का असन्तुलन इसी यज्ञीय जीवन शैली का उल्लंघन करने का परिणाम है।

अग्नि तथा सोम के अनेक प्रकार

सभी देवता प्राण है। अग्नि भी इसका अपवाद नहीं है।[१३२] पृथ्वी पर स्थूल रूप में अग्नि भूताग्नि है, सूर्य में सूक्ष्म रूप में देवाग्नि है और उससे भी अधिक सूक्ष्मरूप में स्वयम्भू में ऋषि प्राण के स्तर पर अंगिरा है। इसी प्रकार सोम के भी चार रूप है। अन्न के रूप में सोम अंशु है, चषकों में भरे जाने पर वह ग्रहसोम कहलाता है, जो प्राणों का निर्माण करता है, मन के स्तर पर यही सोम राजा कहलाता है और चेतना के स्तर पर वाक्। सूक्ष्मता की दृष्टि से एक ही सोम की ये चार अवस्थाएँ है।

इस प्रकार सोम याग के माध्यम से हम प्रकृति के गूढ रहस्यों को समझते हैं। प्रकृति के ये रहस्य सदा प्रासंगिक थे, किन्तु विज्ञान के वर्तमान युग में प्रकृति सम्बन्धी ज्ञान और भी अधिक प्रासंगिक हो गया।

---

१३२ शतपथ ६.३.१.२१

सफलता का रहस्य : दीक्षा के आठ अंग

वैध यज्ञ के रूप में जो सोमयाग होता है, उसकी सभी क्रियाएँ हमें अपने दैनन्दिन जीवन में प्रेरणा देती हैं। उदाहरणतः दीक्षा को लें। दीक्षा का अर्थ है मनुष्य-प्राणों को दिव्य प्राणों से जोड़ना। मानुष प्राण निर्बल हैं, दिव्य प्राण बलवान् हैं। दिव्य प्राणों के बलवान् होने के दो रहस्य हैं- सूर्य, वायु आदि दैव जगत् का इतना बड़ा उपकार करने पर भी कर्तृत्व का अहंकार नहीं रखते और निष्काम भाव ही उन्हें इतना अधिक शक्तिशाली बना देता है। यदि हम भी उसी प्रकार निरहंकार और निष्काम हो जायें तो हमारे मानुष प्राण दिव्य प्राणों के समान शक्तिशाली हो जायेंगे। ऐतरेय उपनिषद् कहता है कि ऐसे व्यक्ति के मुख में अग्नि वाणी बनकर प्रविष्ट हो जातो है, वायु नासिका में प्रविष्ट हो जाता है, सूर्य चक्षु में प्रविष्ट हो जाता है। इसे ही यज्ञ की परिभाषा में औद्ग्राभ अर्थात् मानुषात्मा का दिव्यात्मा के स्तर तक ऊपर उठ जाना कहा जाता है। यह कैसे हो, इसका भी उपाय दीक्षा के अन्तर्गत बताया गया है। सर्वप्रथम हम संकल्पशक्ति का सहारा लें, पारिभाषिक शब्दावली में यह आकूति कहलाती है। दूसरे संकल्प शक्ति को दृढ़ बनाना चाहिए, इसे क्रतु कहते है। दृढ होने पर यह संकल्प कार्य रूप में परिणत हो जाता है। इसे प्रयुक् कहते हैं। इसे ही दक्ष भी कहा जाता है। संकल्प का निरन्तर स्मरण मेधा है। तप आलस्य का अभाव और सरस्वती यज्ञ की सफलता के लिये आवश्यक हैं। उनके साथ पूषा अर्थात् यज्ञ के लिए उपयुक्त सामग्री भी चाहिए।[१३३] ये सब चीजें दीक्षित के लिए आवश्यक मानी गई हैं, किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि ये किसी भी कर्म की सफलता के अंग हैं। ऐसे अनेक सन्दर्भ सोमयाग के हैं, जिन्हें आधुनिक युग में भी प्रासंगिक कहा जायेगा।

❑❑❑

---

१३३ शतपथ ३.१.४.५-९

मन्त्र–विज्ञान

[यह लेख डॉ मण्डनमिश्र स्मृतिव्याख्यानमाला के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया था— सम्पादक]

अवबोधन अर्थ को बताने वाली धातु मन् तथा पालन अर्थ को बताने वाली धातु तृ के संयोग से 'मन्त्र' शब्द बना है।[१३४] इस व्युत्पत्ति के आधार पर यह कह सकते हैं कि मन्त्र एक ओर अवबोधन के नाते चेतन से जुड़ा है तो दूसरी और पालन के नाते रक्षा करने वाली शक्तियों से जुड़ा है।

अवबोधन अथवा चेतन एक बल है जिसे काश्मीर शैवदर्शन में स्पन्दरूप आत्म बल कहा गया है।[१३५] यहाँ दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं––प्रथम तो चैतन्य शक्ति रूप है[१३६] दूसरे चैतन्य की शक्ति स्पन्दरूप है।[१३७] आज विज्ञान परमाणुवाद से क्वाण्टम के सिद्धान्त पर आ गया। परमाणुवाद के अनुसार सारा विश्व परमाणुओं से बना जो कि परमाणु अविभाज्य ठोस कण हैं किन्तु क्वाण्टम सिद्धान्त परमाणुओं को अन्तिम सत्य नहीं मानता है

---

134 'मन् अवबोधने' 'तृपालने' इत्येताभ्यां निरुक्तया निर्वचनीयत्वेन निर्णीततया उच्यते– शिवसूत्र, २.१ की टिप्पणी

१३५ तदाक्रम्य बलं मन्त्राः सर्वज्ञबलशालिनः – स्पन्दकारिका, २६ तद्बल–निरावरण चिद्रूपमधिष्ठाय मन्त्राः सर्वज्ञत्वादिना बलेन श्लाघायुक्ताः प्रवर्तन्तेऽनुग्रहादौ स्वाधिकारे– श्रीभट्टकल्लट्टवृत्ति

१३६ Satprem, Sri Aurobindo or the Adventure of Consciousness, Mysore, 2003, P. 12

१३७ स्पन्दकारिका, पृ. ११३

अपितु यह मानता है कि परमाणु भी विखण्डित होकर ऊर्जा में बदल जाता है।[१३८] इस ऊर्जा के समूह को ही क्वाण्टम कहा जाता है। यह ऊर्जा समूह निरन्तर स्पन्दित है।[१३९] दूसरे शब्दों में विश्व स्पदनों का ही समूह है। यह स्पन्दन भी जड नहीं है अपितु चेतना से युक्त है।[१४०]

विश्व की निरन्तर गतिशीलता का ही सूचक जगत् शब्द है। ईशोपनिषद् ने जगत् शब्द के यौगिक अर्थ की ओर ध्यान दिलाने के लिये ही '**जगत्यां जगत्**' कह कर पुनरुक्ति की है। दूसरी ओर मनुस्मृति के अनुसार देवों से ही जगत् बना है- **देवेभ्यश्च जगत्सर्वम्।** मनुष्य भी देवों का ही समूह है- **नरो वै देवानां ग्रामः**।[१४१] देवतत्त्व के स्वरूप पर विचार करें तो बारम्बार देवों को प्राण कहा गया है-**प्राणाः व दैवाः।**[१४२] एक एक देव को भी पृथक् पृथक् प्राण कहा गया है। प्राण शब्द प्र उपसर्गपूर्वक अन् धातु से बना है जिसका अर्थ गति करना है। इस प्रकार वेद, काश्मीर शैवदर्शन और आधुनिक विज्ञान के बीच तो निम्न प्रकार से पूर्ण समन्वय स्थापित हो ही जाता है, निगम और आगम के बीच भी सामञ्जस्य स्पष्ट हो जाता है-

---

१३८ Quantum theory….. Shows that we cannot decompose the world into independently existing smallest units—Fritjof capra, The Tao of Physics, p.78

१३९ Matter not at all passive and inert but as being in a continous dancing and vibrating motion—Fritjof capra, The Turning Point p.85

140 It is not possible to formulate the law of Quantum theory in a fully consistent way without reference to consciousness— Ibid.p. 173 We realize that the environment is not only alive but also mindful, like ourselves---Ibid. p 291

141 ताण्ड्यब्राह्मण, ६.९.२

१४२ कतम एको देवः प्राण इति- शतपथब्राह्मण, ७.५.१.२१

वेद (निगम)	**काश्मीर शैवदर्शन (आगम)**	**आधुनिक विज्ञान**
देव=प्राण=प्रकृष्टगति देवेभ्यश्च जगत्सर्वम् जगत्यां जगत् आनीदवातं स्वधया तदेकम्	स्पदि=किञ्चिद्चलन यस्योन्मेष निमेषाभ्यां जगत: प्रलयोदयौ	क्वाण्टम्= ऊर्जाराशि कोई ठोस कणों से विश्व नहीं बना

जब वेद,शास्त्र तथा विज्ञान से जगत् की स्पन्दरूपता प्रमाणित होती है तो शब्द, जो कि स्वयं स्पन्दरूप अथवा तरङ्ग रूप है, की महत्ता स्वत: सिद्ध हो जाती है। वस्तुत: रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का बोध हमें तरङ्गों के माध्यम से होता है। नेत्र रूप की तरङ्ग को, रसना रस की तरङ्ग को, घ्राण गन्ध की तरङ्ग को तथा त्वक् स्पर्श की तरङ्ग को हमारे मस्तिष्क में पहुँचाते हैं तो हमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का ज्ञान होता है। तरङ्गों के अतिरिक्त कोई ठोस पदार्थ हमारे मस्तिष्क तक जाकर हमें रूप, रस, गन्ध अथवा स्पर्श का ज्ञान नहीं कराते। इन सब की तरङ्गों में शब्द की तरङ्ग ही सर्वाधिक सूक्ष्मतम होने से सर्वाधिक बलशाली है।

सृष्टि की प्रक्रिया का क्रम यह है कि आत्मा से सर्वप्रथम आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। अत: आकाश चेतना के निकटतम है तथा उसकी तरङ्ग सर्वाधिक बलशाली भी है। यही शब्दराशिरूप मन्त्र की वीर्यशक्ति का बीज है।

आत्मा शुद्ध चैतन्य है। यह चैतन्य जब माया से आवृत होता है तो सृष्टि बन जाता है। माया का यह आवरण ज्यों ज्यों घन होता जाता है त्यों त्यों पञ्चभूत भी घनतर होते जाते हैं। अत: आकाश से वायु,

वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी घनतर है। इनमें आकाश में आवरण सबसे झीना है। शब्द आकाश का ही गुण है। जब शब्द में से माया का आवरण अनावृत हो जाता है तो शब्द शुद्ध चैतन्य से जुड़कर परमशक्तिशाली हो जाता है। क्योंकि सारी शक्ति का मूल चैतन्य ही है। श्री भट्ट कल्लट स्पन्दकारिका की वृत्ति में स्पष्ट लिखते हैं- **तत् बलं निरावरणचिद्रूपम् अधिष्ठाय मन्त्राः सर्वज्ञत्वादिना बलेन श्लाघायुक्ताः प्रवर्तन्ते अनुग्रहादौ स्वाधिकारे।**

यहाँ सर्वज्ञत्वादि से अभिप्राय सर्वज्ञाता, तृप्ति, अनादि बोध, अप्रतिहत स्वातन्त्र्य, शक्ति का निर्बाध प्रसार, विश्व रूप में विकसित अनन्त शक्तियों का ऐश्वर्य- ये छह प्रकार के माहेश्वर बल हैं।[१४३]

ये बलों की प्राप्ति की चर्चा हुई। जो साधक इन बलों को प्राप्त करना चाहे वह मन्त्रों से प्राप्त कर सकता है किन्तु यह मायोपहित चैतन्य की ही उपासना अथवा देवोपासना है । इस उपासना का फल सब प्रकार के भोगों की उपलब्धि है। यही सकाम उपासना है जिसे मन्त्रशक्ति का साञ्जनरूप भी कहा जाता है।

किन्तु मन्त्रशक्ति का निरञ्जन रूप भी है जिसमें मन्त्र समस्त आवरणों को भेद कर साधक को विशुद्ध चिद्रूप अथवा शिवरूप में स्थापित कर देता है।[१४४] यह निष्काम उपासना है जहाँ शब्द ब्रह्मरूप ही हो जाता है जिसके लिये वाक्यपदीय की प्रथम कारिका कहती है-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[१४५]

१. प्रथम देवोपासना पर विचार करें। वेद के प्रत्येक मन्त्र का कोई न कोई देवता रहता है। ऋषि अथवा साधक जिस कामना से

---

143 स्पन्दकारिका, पृ. ११३ की पादटिप्पण

१४४ तत्रैव सं प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरञ्जनाः।
सहाराधकचित्तेन तेन ते शिवधर्मिणः।।-स्पन्दकारिका, २७

145 वाक्यपदीय, १ तुलनीय **शाश्वत**, (जोधपुर १९९७) पृ. १८२-१८९

जिस अर्थ का स्वामी बनने के लिये जिसकी स्तुति करता है वही उस मन्त्र का देवता हो जाता है।[१४६] अब जैसा कि पहले ही कहा गया है प्रत्येक देव प्राण रूप है और प्राण स्पन्दरूप अथवा तरङ्गरूप है। आज विज्ञान हमें बताता है कि तरङ्ग ऋजु गति से न चलकर वक्रगति से इस प्रकार चलती है:-

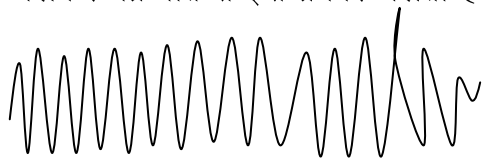

नासदीय सूक्त में प्राणों की गति तिरश्चीन अर्थात् तिरछी और ऊर्ध्व तथा अधः बतायी गयी है- **तिरश्चीनो विततः रश्मिरेषा-मधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत्।**[१४७]

यद्यपि इस पंक्ति की दूसरे प्रकार से भी व्याख्या सम्भव है तथापि विज्ञान द्वारा तरङ्ग की दी गयी उपर्युक्त गति से भी इस पंक्ति का विवरण पूर्णतः मेल खाता है।

अब जिस मन्त्र में जिस देवता की स्तुति है उस देवता के प्राणों की गति का एक प्रकार है। देवोपासक भी अपने प्राणों की गति उसी प्रकार की कर लेता है तो देवों के प्राणों की शक्ति उसके प्राणों की शक्ति को अनेक गुणित कर देती है और वह इष्ट पदार्थ प्राप्त करने में सफल हो जाता है। उदाहरणतः एक देव के प्राणों की गति का क्रम निम्न है-

146 यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायां स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्देवतः सः मन्त्रः- दुर्गाचार्य, निरुक्त ७

147 ऋग्वेद, १०.१२९.५

उस देव की उपासना करने वाले साधक को भी अपने प्राणों की गति उसी प्रकार की करनी होगी तो स्थिति यह बनेगी–

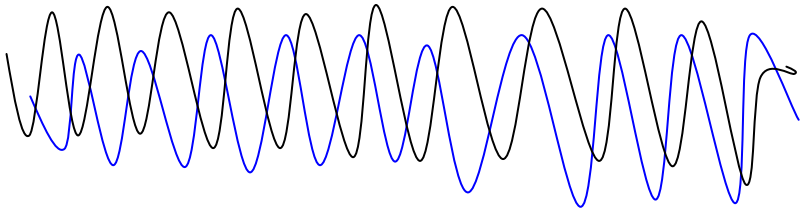

यहाँ एक रेखा देव–प्राण की गति की सूचक है तथा दूसरी रेखा देवोपासक की गति की सूचक है। ये दोनों गतियाँ एक ही प्रकार की हैं। देव बन कर ही देव की उपासना करें– कहने का यही अभिप्राय है। इस प्रकार उपासक के प्राणों को देव प्राणों का सहारा मिलने से वे प्राण अनेकगुणित बलवान् हो गये।

९. प्रश्न होता है कि साधक देवों के प्राणों की गति को कैसे जाने? उत्तर यह है कि मन्त्र, चाहे वह शस्त्र अर्थात् अप्रगीत हो, चाहे स्तोत्र अर्थात् प्रगीत हो, गुणिनिष्ठगुणों का अभिधान करता है। इस प्रकार मन्त्र देवता के प्राणों की गति को बता देता है। दूसरा प्रश्न है कि साधक अपने प्राणों की गति को कैसे नियन्त्रित करे? उत्तर यह है कि मन्त्र प्राणों की गति को नियन्त्रित करने का ही साधन है। मन्त्र शब्द राशिरूप है। शब्द की उत्पत्ति आत्मा, बुद्धि, मन तथा शरीर के सहयोग से होती है।

आत्मा की प्रेरणा से मन में बोलने की इच्छा होती है। वह इच्छा प्राणों को उद्वेलित करती है तथा प्राणों की यही गति कण्ठ तालु आदि स्थानों से टकराकर शब्द बन जाती है।[१४८] जिस पदार्थ के वाचक शब्द को हम बोलना चाहते हैं वह

---

148 आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् युङ्क्ते विवक्षया
मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम् –पाणिनीयशिक्षा, ६

पदार्थ बुद्धि का विषय बनता है। शब्द की उत्पति का यही स्वाभाविक क्रम है। जो मन की इच्छा हो वही पदार्थ बुद्धि का विषय बने तथा प्राण उसी पदार्थ के वाचक शब्द को उत्पन्न करे-- यह शब्दोत्पत्ति का स्वाभाविक क्रम है। इस क्रम से उत्पन्न होने वाला शब्द सत्य कहा जाता है- **मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्**। इसके विपरीत मन की इच्छा कुछ हो, बुद्धि चिन्तन कुछ दूसरा ही करे, तथा शब्द कोई अन्य कहे जायें— यह अनृत का लक्षण है। सत्यवाक् में प्राणों की गति मन के अनुरूप होने के कारण बलवती तथा अर्थवती होती है। अनृतवाक् में प्राणों की गति निर्बल तथा अनर्थकारी हो जाती है।

१०. मन्त्र में मन, प्राण, वाक् की एकरूपता होनी चाहिये। इसे महर्षिपतञ्जलि ने 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'[१४९] कहा है। इस से स्पष्ट होता है कि हम मन्त्र के देवता का स्वरूप जान कर उस देवता के प्राणों की गति जान सकते हं तथा मन्त्र के शब्द से उस अपने प्राणों की गति को भी तदनुसार ढाल सकते हैं। एक उदाहरण के लिये सर्वजन प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र को लें। गायत्री मन्त्र का देवता सविता है। सविता का तेज ऐसा है कि न वह कभी उदित होता है, न अस्त होता है—**नोदेति नास्तमेति**। पुनः वह कभी प्रमाद नहीं करता —**पश्य सूर्यस्य महिमानं यो न तन्द्रयते चरन्**। हम सफलता में गर्वित न हों, असफलता में दीन न हों तथा श्रम करते हुए कभी आलस्य न करें। यह देव बनकर देवोपासना करने की विधि हुई। ऐसा करने पर देव हमारे प्राणों से तादात्म्य रूप धारण कर लेंगे और वही हमारी बुद्धि के प्रेरक बनकर हमें कल्याणकारी मार्ग पर ले चलेंगे। यह गायत्री मन्त्र द्वारा सविता की उपासना का फल हुआ।

---

149 पातञ्जलयोगसूत्र, १.२८

इस उपासना के द्वारा उपासक को सविता की प्रेरणा-शक्ति का प्रत्यक्ष अनुभव लगता है। यही मन्त्र द्वारा देव के साक्षात्कार का अर्थ है।

११. यह तो मन्त्र के उस प्रभाव की बात हुई जो प्रभाव मन्त्र के अर्थ पर विचार पूर्वक मन्त्र के प्रयोग से उत्पन्न होता है। किन्तु एक पक्ष यह भी है कि मन्त्रों का अर्थ होता ही नहीं- **अनर्थका हि मन्त्राः**। यदि कौत्स का यह मत न भी मानें तो यह प्रश्न तो बना ही रहेगा कि **शन्नो देवीरभीष्टये आपो भवन्तु पीतये, शं योरभीस्रवन्तु नः** मन्त्र के पाठ से शनि की शान्ति किस प्रकार होगी जबकि इस मन्त्र में शनि का कोई उल्लेख ही नहीं है। मानना ही होगा कि कम से कम ऐसे मन्त्रों का विनियोग से कोई सम्बन्ध नहीं। तन्त्रोक्त बीज-मन्त्रों का भी कोई अर्थ नहीं होता और अनेक शाबर-मन्त्र भी निरर्थक से ही होने पर भी अपना इष्ट प्रभाव दिखाते हैं।

समाधान यह है कि शब्द एक तो वाच्य-वाचक भाव द्वारा व्याकरण-कोशादि की सहायता से अपना प्रसिद्ध अर्थ देते ही हैं किन्तु उस वाच्यार्थ के अतिरिक्त वे एक विशेष प्रकार की ध्वनि-तरङ्ग भी उत्पन्न करते हैं। मन्त्र के वाच्यार्थ का तो अनुभव वे ही कर सकते हैं जो उस भाषा को जानते हो, जिस भाषा में वे मन्त्र हैं किन्तु मन्त्र की ध्वनि-तरङ्ग का अनुभव सभी कर सकते हैं। अतः बीज मन्त्र अथवा शाबर मन्त्र भी कोशगत अर्थ न देने पर भी अपना प्रभाव दिखाते ही हैं।

१२. इस सम्बन्ध में ऐतरेयारण्यक का एक प्रसङ्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ह। वहाँ कहा गया है कि मन्त्र पाठ दो प्रकार का है- निर्भुज एवं प्रतृण्ण। निर्भुज पाठ पत्राकार छपी वेद संहिताओं में मिला है जहाँ पदों के बीच कोई स्थान नहीं छोड़ा जाता तथा अनेक व्यञ्जन द्वित्व रूप में रहते हैं। यह पाठ उच्चारण प्रधान ह।

प्रतृण्ण पाठ में पदों को पृथक् पृथक् छापा जाता है ताकि अर्थावबोध सरलता से हो सके। ऐतरेयारण्यक ने इन दोनों पाठों का पृथक् पृथक् फल भी दिया है। निर्भुज पाठ का फल पार्थिव अन्नादि की प्राप्ति है तथा प्रतृण्ण पाठ का फल दिव्य स्वर्गादि की प्राप्ति है।[१५०]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शब्दों से उत्पन्न तरङ्गों का प्रभाव पार्थिव है और शब्दों के अर्थ की भावना पूर्वक मन्त्रजप का प्रभाव दिव्य है अर्थात् प्रथम का फल इहलौकिक है और दूसरे का फल पारलौकिक है। जो अर्थानुसन्धान के बिना ही मन्त्र-पाठ करते अथवा सुनते हैं उन्हें भी अभ्युदय रूप फल शब्दों के तरङ्ग से प्राप्त हो जाता है तथापि अर्थानुसन्धान पूर्वक मन्त्र पाठ का फल विशेष है। दोनों प्रकार के फल के लिये ही स्वाध्याय और अर्थ ज्ञान दोनों पर बल दिया गया है- **स्वाध्यायोऽध्येतव्यो ज्ञेयश्च।** पूर्ण फल तो अर्थज्ञ को ही प्राप्त होता है- **योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा**।

१३. यहाँ एक रोचक प्रश्न उत्पन्न होता है । असुरों ने इन्द्र से परेशान होकर एक ऐसे पुत्र की कामना से यज्ञ किया जो इन्द को मार दे। उन्होंने इन्द्र के शत्रु की कामना से 'इन्द्र शत्रुर्वर्धस्व' कहकर आहुति दी। अब इन्द्रशत्रु शब्द यदि अन्तोदात्त हो तो यह तत्पुरुष समास होगा और इसका 'इन्द्र का शत्रु अर्थात् मारने वाला' होगा। किन्तु असुरों ने इन्द्र का आद्युदात्त उच्चारण कर दिया। इससे नियमानुसार इन्द्रशत्रु में बहुब्रीहि समास होने पर 'इन्द्र है शत्रु अर्थात् मारने वाला

---

१५० अथातो निभुजप्रवादाः। पृथिव्यायतनं निर्भुजं, दिव्यायतनं प्रतृण्णम्। उभयकाम उभयमन्तरेण। -ऐतरेयारण्यक, ३.१.३

जिसका' यह अर्थ हो गया । फ लस्वरूप वृत्र उत्पन्न हुआ जिसने इन्द्र को नहीं मारा अपितु जिसे इन्द्र ने ही मार दिया।[१५१]

प्रश्न होता ह क्या देवता उपासक के भाव को नहीं जानते और भूल से जबान फिसलने से (By slip of tongue)यदि कोई अशुद्ध शब्द निकल जाये तो उसे ही प्रमाण मानकर अनिष्ट फल दे देते हैं। प्रश्न का प्रथम उत्तर तो यह है कि चाहे भूल से ही गलत उच्चारण हो जाये तो भी शब्द की तरङ्ग तो यान्त्रिक रूप से वही बनेगी जो उच्चरित किये गये शब्द से बनती है। अत: भूल से भी किये गये अशुद्ध उच्चारण का अनिष्ट फल ही होगा।

किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्ग में विचार अर्थ पर है न कि शब्द जन्य तरङ्ग पर । मनोविज्ञान की दृष्टि से By slip of tongue भी अकारण नहीं होती। हमारे अवचेतन मन में चलने वाले द्वन्द्व के कारण हमारे सामने एक साथ दो परस्पर विरोधी विचार आ जाते हैं जिनमें से कहना तो हम एक विचार चाहते हैं किन्तु दूसरा विचार बलपूर्वक पहले विचार को दबा लेता है और वही विचार शब्दों में अभिव्यक्त हो जाता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में असुरों के अन्तर्मन का द्वन्द्व प्रकट हो रहा है । असुर इन्द्र से बारम्बार पराजित होते रहे हैं। उन्हें इन्द्र के अत्यन्त बलशाली होने का भय है कि क्या वस्तुत: इन्द्र को नष्ट कर सकने वाला कोई हो भी सकता है। इस भय के कारण उन्हें अपनी कामना की पूर्त्ति में सन्देह था। इसी सन्देह के कारण उनका चित्त अस्थिर हो गया। उस अस्थिर चित्त से स्वरगत अशुद्धि हो गयी।

---

१५१ पाणिनीय शिक्षा, व्याख्याकार डॉ सत्यप्रकाश दुबे एवं आचार्य शम्भुदयाल पाण्डेय, पृ. १२

आशय यह है कि अनुष्ठान के प्रारम्भ में जो सङ्कल्प किया जाय उसमें कोई विकल्प नहीं होना चाहिये अन्यथा अनुष्ठान में कोई न कोई न्यूनता रह जायेगी। ऐसी अनास्था से किया गया अनुष्ठान कि ' मन्त्र से कुछ होना जाना तो है नहीं, फिर भी कर लेने में क्या हानि है' मन्त्र को निर्बल बना देता है। मन्त्र क साथ श्रद्धा आवश्यक है।

१४. श्रद्धा का प्रश्न आया तो अजामिल की कथा एक नया प्रश्न खड़ा कर देती है। अजामिल ने अन्त समय अपने पुत्र 'नारायण' को पुकारा था, यहाँ भगवान् के प्रति श्रद्धा का तो प्रश्न ही नहीं था फिर भी उसे विष्णु के दूतों ने आकर यमदूतों से कैसे बचा लिया?[१५२] क्या शब्द किसी और भाव से कहने पर कोई अन्य फल भी दे देते हैं? यहाँ यह उदाहरण ऊपर के 'इन्द्रशत्रु' वाले उदाहरण से विपरीत है। वहाँ भाव ठीक था किन्तु शब्द के उच्चारण की अशुद्धि ने विपरीत (यद्यपि अनुकूल) फल दे दिया। यहाँ भाव में विष्णु नहीं है किन्तु शब्द के शुद्ध उच्चारण मात्र से अनुकूल फल मिल गया। तो क्या शब्द का उच्चारण ही मुख्य है, भाव का कोई महत्त्व नहीं?

यहाँ भी हमें मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना होगा। अजामिल मरणासन्न था। वह पहले अत्यन्त सात्विक जीवन जी रहा था। बाद में उसके जीवन में एक दुर्घटना घटी कि उसने पापपूर्ण जीवन जीना स्वीकार कर लिया। मृत्यु के समय प्रायः मनुष्य के सामने उसके जीवन का चित्र आ जाता है । अजामिल के प्रारम्भ का जीवन पवित्र था, बाद का जीवन पापमय हो गया। उसके सामने पाप के फल भोगने का भय आ गया क्योंकि मृत्यु सन्निकट थी। उस भय में उसने अपने पुत्र को ही पुकारा। भय में अपने प्रिय को ही त्राण के लिये पुकारा

---

१५२ श्रीमद्भागवतपुराण, षष्ठ स्कन्ध, अध्याय १.२

जाता है। किन्तु अजामिल का वह सात्विक जीवन का संस्कार भी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ था कि मृत्यु के समय पुत्रादि रक्षा नहीं कर सकते, केवल भगवान् ही रक्षक बनता है। अतः उसने वस्तुतः रक्षक को पुकारा । उसके अन्तर्मन ने उसे सुझा दिया कि रक्षक तो भगवान् ही हैं। इस प्रकार चेतन मन में तो पुत्र को ही पुकारा किन्तु अवचेतन मन ने तो भगवान् को ही पुकारा। भक्ति में तर्क नहीं चलता। अतः श्रीमद् भागवत में कोई तर्क नहीं दिया। उसमें तो केवल भगवन्नाम की महिमा ही कह दी गयी। किन्तु हम इस घटना का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर सकते हैं।

१५. कौन शब्द किस समय जीवन को क्या क्रान्तिकारी मोड़ दे दे-- यह पता नहीं है। ऐसे में वह शब्द मन्त्र बन जाता है। वस्तुतः सभी शब्द मन्त्र बन सकते हैं, यदि वे चित्त की चेतना से जुड़ जायें। इसलिये शिवसूत्र में तो चित्त को ही मन्त्र कहा गया है- चित्तं मन्त्रः।[१५३]

१६. अथर्ववेद काम्य प्रयोगों के लिये प्रसिद्ध है क्योंकि इसी में विभिन्न कामनाओं की पूर्त्ति के लिये सर्वाधिक मन्त्र दिये गये हैं यद्यपि यजुर्वेदादि के भी मन्त्रों का प्रयोग कात्यायनादि महर्षियों ने किया है किन्तु अथर्ववेद का ही उपयोग काम्य प्रयोगों के लिये सर्वाधिक होता है। इसका भी एक तर्क सङ्गत शास्त्रीय कारण है।

ऋक्, यजुष्, साम का सम्बन्ध क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य से है। ये तीनों ही देव वस्तुतः अग्नि हैं।[१५४] अतः ऋक्, यजुष, साम की त्रयी अग्नि-वेद है। अथर्ववेद सोममय है।[१५५]

---

१५३ शिवसूत्र पृ. ७६

१५४ अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते- निरुक्त ७.४

१५५ सोममयो ह्ययं वेदः- गोपथब्राह्मण, पूर्वार्चिक २.१

अग्नि तेजस्विता देती है किन्तु शान्ति सोम ही देता है। अगि की उपासना से कहीं व्यक्ति गरम हो जाये तो उसे सोम ही शान्त कर सकता है।

दूसरे शब्दों में अथर्ववेद ब्रह्मवेद है। ब्रह्म त्रिगुणातीत है। त्रिगुणों में कहीं व्यक्तिक्रम हो तो त्रिगुणातीत ब्रह्म ही शान्ति प्रदान करता है। अत: अथर्व का काम्य कर्मों तथा शान्ति कर्म में विशेष महत्त्व है। कामनायें भोग्य की होती हैं। सभी भोग्य सोम हैं। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है।[१५६] अन्नाद अन्न की कामना करता है। उस कामना की पूर्त्ति सोम से ही होती है। अत: सोममय अथर्ववेद के काम्य प्रयोगों पर विचार करने का भी वैज्ञानिक हेतु है।

सोम को शतपथ ब्राह्मण ने आप: कहा है और आप: की व्युत्पत्ति बताते हुए कहा है कि सभी कामनाओं के प्राप्त कराने के कारण आप: कहलाते हैं।[१५७]

१७. प्रारम्भ से ही वेद पाठ सस्वर करने की परम्परा रही है। यह सस्वर पाठ भी चारों वेदों का अलग-अलग प्रकार से होता हैं। ऋक् का सम्बन्ध अग्नि से हैं और अग्नि पृथ्वी का देवता है। यजुष् का सम्बन्ध वायु से है और वायु अंतरिक्ष का देवता हैं। सोम का सम्बन्ध आदित्य से है और आदित्य द्युलोक का देवता है।[१५८] इन तीनों वेदों के सस्वर उच्चारण को वेदपाठियों से सुनें तो यह स्पष्ट प्रतीति में आता है कि ऋक् पृथ्वी से जुड़ी है, यजुष् अंतरिक्ष से जुड़ा है तथा साम् द्युलोक से जुड़ा है। ऐसा

---

१५६ सोमोऽन्नमग्निरन्नाद:- काठक सङ्कलन, १४०

१५७ विस्तार के लिये देखिये-आचार्य केशव देव शास्त्री, अथर्व संहिता विधान, नई दिल्ली, १९८८

१५८ आप: सोम: - शतपथ, ९.११.२२ अपि च- तदपामाप्त्व-माप्नोति ह वा सर्वान्कामान्यान्कामयते- गोपथ, १.१.२

इन तीनों वेदों के सस्वर पाठ को सुनने से ही स्पष्ट आभास हो जाता है। अभिप्राय यह है कि वेद पाठ की पद्धति का एक तर्क संगत वैज्ञानिक आधार है, अलग अलग वेदों के पाठ में जो भेद है वह यादृच्छिक नहीं है। जहाँ तक अथर्ववेद का सम्बन्ध है हम पहले ही कह चुके हैं कि उसका सम्बन्ध सोम से है। सोम शीतल है अतः अथर्ववेद का उच्चारण सुनने पर शान्ति का अनुभव होता है।

जहाँ तक अग्नि, वायु, आदित्य का सम्बन्ध है वे आयुर्वेद के क्रमशः: पित्त, वात और कफ के समकक्ष हैं। अतः अग्नि, वायु और आदित्य से जुड़े ऋक्, यजुष्, और साम का सस्वर पाठ पित्त, वात्त और कफ को नियन्त्रित करके व्यक्ति को स्वस्थ बनाता हैं। वैद्य नाड़ी परीक्षा के द्वारा पित्त, वात और कफ की स्थिति को जाँचकर यह बता सकता है कि किस रोगी को किस वेद का कितना पाठ सुनना चाहिए। अथर्ववेद क्योंकि सोमवेद है अतः इसका पाठ व्यक्ति को पुष्ट बनाता है।

१८. वेदों में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित पयुक्त होते हैं जबकि संगीत में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत तथा निषाद स्वर प्रयुक्त होते है। याज्ञवल्क्य शिक्षा के अनुसार निषाद और गान्धार का अन्तर्भाव उदात्त में, ऋषभ और धैवत का अनुदात्त में तथा षड्ज, मध्यम और पञ्चम का अन्तर्भाव स्वरित में होता है।[१५९] शास्त्रीय संगीत का प्रभाव मनुष्यों पर ही नहीं वनस्पतियों और पशुओं पर भी वैज्ञानिक रूप से प्रयोग द्वारा परीक्षित किया जा चुका है। ऊपर (१.१७) में वेदपाठ के जिस सम्भाविक प्रभाव का उल्लेख किया गया है उसका वैज्ञानिक

---

१५९ उच्चौ निषादगान्धारौ नीचा वृषभधैवतौ
शेषास्तु स्वरिताः ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः –याज्ञवल्क्य शिक्षा,७

पद्धति से परीक्षण राजस्थान संस्कृत अकादमी के सहयोग से किया जाना प्रस्तावित है।

१९. वेद के विकृति पाठ भी प्रसिद्ध हैं। यह माना जाता हैं कि ये विकृति पाठ वेद की सुरक्षा के लिए है। किन्तु विज्ञान की दृष्टि से विकृति पाठों में पदों की भिन्न-भिन्न क्रमों में सस्वर आवृत्ति से जो भिन्न -भिन्न तरंगें उत्पन्न करती है उसका प्रभाव भी वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा निर्धारित करना अत्यन्त आवश्यक है । शास्त्रीय संगीत में भी पदों के भिन्न-भिन्न क्रम में आवृत्ति की जाती हैं। उसके प्रभाव का अध्ययन तो पहले से ही किया जा चुका है।

२०. वेद में जिन देवताओं की स्तुति है वे अग्नि, जल, वायु आदि सौ वर्ष पहले तक जड माने जाते थे। किन्तु अधुनातन विज्ञान ने यह स्थिति बदल दी हैं। जापान के एक वैज्ञानिक Masaru Emoto ने जल पर कुछ प्रयोग किये।[१६०] इन प्रयोगों स यह पता चला कि जल न केवल हमारी बात सुनता है अपितु उसका प्रत्युत्तर भी देता है। इन प्रयोगों में एक पात्र में रखे हुए जल की प्रशंसा की गयी और दूसरे पात्र में रखे हुए जल की निंदा की गयी। इन दोनों पात्रों के जल को जब जमाया गया तो जल क ऊपर आने वाली पपड़ी पर कुछ आकृतियाँ ऊभर आयीं। ये आकृतियाँ जल को सम्बोधित किये गये शब्दों के इस प्रकार अनुरूप थीं कि मानों जल ने हमारी बात को सुनकर समझा है और उसका अनुकूल उत्तर दिया है।

❑❑❑

---

१६० The Hidden messages in water, New York, 2005

प्रस्थानत्रयी एवं प्रस्थानपञ्चक

[यहाँ लेखक ने विद्वानों को कतिपय नयी योजनायें हाथ में लेने का सुझाव दिया है— सम्पादक]

विज्ञान और तकनीकः सार्वभौम

आज भूमण्डलीकरण हो रहा है। ऐसे में पूरी मानव जाति एक हो गयी है। मानव जाति की यह एकता बाह्य रूप से खान-पान, वेश-भूषा आदि की समानरूपता में प्रकट हो रही है। इस दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि प्रायः पश्चिमी शैली ही अन्तराष्ट्रीय शैली बन गयी है। इसका कारण यह है कि विज्ञान और विज्ञान पर आधृत तकनीक का विकास पिछले दो सौ वर्षों में प्रायः पश्चिम में ही हुआ । वह विज्ञान और उस विज्ञान पर आधृत तकनीक को ही सारे विश्व ने अपनाया। अतः उस विज्ञान और विज्ञान पर आधृत जीवन शैली सार्वभौम हो गयी। किन्तु इस विज्ञान तथा विज्ञानाधृत तकनीक ने हमारी बाह्य सभ्यता को ही मुख्य रूप से प्रभावित किया।

भारतीय संस्कृतिः अध्यात्म

जिस समय यह प्रक्रिया चल रही थी उसी समय भारत में महात्मा गाँधी जैसे राष्ट्र पुरुष, डॉक्टर राधाकृष्णन् जैसे दार्शनिक, महर्षि अरविन्द जैसे योगिराज और कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे कवि भारत की संस्कृति का विश्व के सम्मुख अत्यन्त सबल शब्दों में रख रहे थे। महात्मा गाँधी ने तो पश्चिमी विज्ञान तथा तदाधृत तकनीक का भी अंशतः विरोध ही किया किन्तु कुल मिलाकर सभी ने भारतीय संस्कृति के शाश्वत मूल्यों की गरिमा हमारे सामने रखी।

पश्चिमी सभ्यता : आर्थिक ढाँचा

ठीक या गलत, पश्चिमी विज्ञान तथा तदाधृत जीवन शैली को भी हमने अपना ही लिया है। फलतः हमारा आर्थिक ढाँचा उदारीकरण के माध्यम से पश्चिमी मॉडल पर ही ढल रहा है। भविष्यवाणी की जा रही है कि सन् २०४० तक भारत अमरीका को पीछे छोड़ता हुआ केवल चीन से पीछे रह जायेगा और विश्व में दूसरी बड़ी आर्थिक शक्ति बन जायेगा। हमें इस भविष्यवाणी के सत्य सिद्ध होने की प्रार्थना तो करनी ही है, इस दिशा में पुरुषार्थ भी करना है। **नाश्रान्तस्य सख्याय देवाः, योगः कर्मसु कौशलम्, धर्मादर्थश्च कामश्च** इत्यादि के रूप में परिश्रम, कार्य कुशलता और ईमानदारी के वे सूत्र हमें परम्परा से प्राप्त हैं जो अभ्युदय के लिये हमारा कुशल मार्गदर्शन कर सकते हैं।

अभ्युदय -निःश्रेयस : धर्म

प्रश्न है अभ्युदय के साथ निःश्रेयस का — **यतोऽभ्युदयनिश्रयससिद्धिः स धर्मः।** यह वैशेषिक सूत्र आज पूरे विश्व का लक्ष्य बना हुआ है—Peace with Prosperity. यजुर्वेद की विद्या-अविद्या, मुण्डकोपनिषद् की परा-अपरा तथा गीता की ज्ञान-विज्ञान चर्चायें इसी अभ्युदय-निःश्रेयस के समन्वय पर बल देती हैं।

प्रस्थानत्रयीः खण्डित दृष्टि

किन्तु दर्शन-युग में एक परम्परा चली प्रस्थानत्रयी की। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद् भगवद्गीता का श्रवण-मनन तो दर्शन अथवा ज्ञान का विषय है, वेद और ब्राह्मण कर्मकाण्ड के ग्रन्थ हैं। फिर आया कर्म और ज्ञान के पारस्परिक विरोध का प्रसिद्ध सिद्धांत जिसका फलित हुआ- **कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।** कर्म की उपेक्षा का जो फल होता है, वह हुआ; हमारा अभ्युदय अवरुद्ध हो गया। भारत की गणना दरिद्र देशों में हुई।

समग्रदृष्टिः ज्ञानकर्मसमुच्चय

ऐसी स्थिति में लोकमान्य तिलक, महर्षि अरविन्द और पण्डित मधुसूदन ओझा ने अपने अपने ढंग से ज्ञान-कर्म-समुच्चय पर बल दिया। एक अर्थ में इन सभी ने आचार्य शङ्कर के प्रति आदर-भाव प्रकट करते हुए भी उनके ज्ञान-कर्म के परस्पर विरोधी मानने पर असहमति ही प्रकट की। फिर भी इस युग मं भी प्रस्थान-त्रयी की अवधारणा का ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि डॉक्टर राधाकृष्णन् जैसे गम्भीर दार्शनिक भी वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों में किसी गम्भीर दर्शन की स्वीकृति नहीं दे सके अर्थात् दूसरे शब्दों में वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों को या तो पश्चिमी दृष्टि से आदिम मनुष्य की प्रकृति उपासना के ग्रन्थ मानते रहे या सायणानुसार कर्मकाण्ड के ग्रन्थ।

प्रस्थानपञ्चक : वेद- ब्राह्मण

इस दिशा में एक साहसपूर्ण कदम उठाया महर्षि अरविन्द ने जिन्होंने वेदों में गम्भीर दर्शन का प्रतिपादन किया या पण्डित मधुसूदन ओझा ने जिन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों में गम्भीर दर्शन का प्रतिपादन किया। दूसरे शब्दों में अब दर्शन की प्रस्थान-त्रयी न रहकर प्रस्थान-पञ्चक बन गया और प्रस्थान-त्रयी अर्थात् उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता की ही एकवाक्यता प्रतिपाद्य न रहकर वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता की एक वाक्यता प्रतिपाद्य हो गयी। वस्तुतः इस प्रस्थान - पञ्चक की एकवाक्यता कर्म-ज्ञान-समुच्चय के समर्थन के लिये अपरिहार्य है। तब ही तो कर्म-प्रधान मन्त्र- ब्राह्मण का ज्ञान-प्रधान उपनिषद्- ब्रह्मसूत्र-गीता से समन्वय हो सकेगा।

ज्ञानकर्म : मुख्यगौणभाव

वस्तु-स्थिति कुछ ऐसी है कि मन्त्र-ब्राह्मण भाग में कर्म प्रधान अवश्य है किन्तु ज्ञान का नितान्त अभाव नहीं है और उपनिषद-ब्रह्मसूत्र-

गीता में भी कर्म का गौणभाव भले ही हो किन्तु अभाव नहीं है। किन्तु दो ग्रन्थों में मुख्य-गौणभाव का पौर्वापर्य हो जाने से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि वे ग्रन्थ परस्पर विरोधी हैं; प्रयोजन, विशेष से ग्रन्थकार मुख्य-गौणभाव रखा करते हैं। ऊपर जिस प्रस्थानपञ्चक का हमने उल्लेख किया है उसकी स्थिति कुछ इस प्रकार बनती है—

१.वेद

इसमें परम्परा आध्यात्मिक, आधिवैदिक तथा आधिभौतिक तीनों अर्थ मानती है। परन्तु सायणाचार्य ने प्रायशः आधिदैविक अर्थ ही किया है। कतिपय अस्यवामीय, नासदीय, पुरु ष प्रभृति भावसूक्त स्पष्टतः दार्शनिक हैं किन्तु अधिकतर सूक्त आधिदैविक ही हैं। महर्षि अरविन्द ने उन आधिदैविक सूक्तों का भी दार्शनिक अर्थ किया है। यह उनके वेदभाष्य का वैशिष्ट्य है। **वेदानां विश्वतो मुखम्**। गौ शब्द को लें तो सामान्य व्यक्ति के लिये यह पशु-वाचक है और कृषि-प्रधान समाज में उसका महत्त्व भी स्पष्ट है। किन्तु यास्काचार्य गौ का प्रकाश अर्थ भी करते हैं। कई स्थानों पर तो गौ का यही प्रकाश अर्थ प्रसङ्गानुकूल भी लगता है। तात्पर्य्य यह कि वेद सामान्य व्यक्ति के लिये सामान्य अर्थ भी दे देगा और विशेष व्यक्ति को दार्शनिक अर्थ भी दे देगा। इस प्रकार उसमें अभ्युदय आर निःश्रेयस संश्लिष्ट हैं।

२. ब्राह्मणग्रन्थ

पण्डित मधुसूदन ओझा ने ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थवाद वाक्यों के आधार पर श्रौतयागों के पीछे निहित दर्शन को स्पष्ट किया। उनके सारे साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर एक ऐसा जीवन-दर्शन खड़ा किया गया है जिसकी उपनिषद् तथा गीता से पूर्ण एकवाक्यता है। इसी कारण उनके शिष्य पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री ने ब्राह्मण ग्रन्थ के साथ-साथ उपनिषद् तथा गीता को भी अपने भाष्य का विषय बनाया। यद्यपि उनके

तीनों ही ग्रन्थों के भाष्य पूरे नहीं हो पाये तथापि जितना भाष्य मिलता है उतना इस एकवाक्यता को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है ।

३. उपनिषद्

ये ज्ञान काण्ड के ग्रन्थ माने जाते हैं किन्तु इनमें ऐसे स्थल भरे पड़े हैं जिनमें कर्मकाण्ड का आदरभाव से प्रतिपादन है और जिन्हें समझे बिना उपनिषद् को पूरी तरह समझ लेने का दावा भी नहीं किया जा सकता। कर्म काण्ड की शब्दावली का प्रयोग उपनिषदों में बहुत है। अत: ब्राह्मण ग्रन्थों के मर्म को जाने बिना उपनिषदों का भी मर्म उद्घाटित नहीं हो पाता । ऐसा प्रयास पण्डित मोतीलाल जी ने अपने उपनिषद्-भाष्यों में किया भी है।

४. ब्रह्मसूत्र

ब्रह्मसूत्र पर विज्ञान भाष्य पण्डित मधुसूदन ओझा का है। इस भाष्य में भी ज्ञान का कर्म से समुच्चय प्रतिपादित है।

५. श्रीमद्भगवद्गीता

प्रस्थान पञ्चक में अन्तिम होने के नाते श्रीमद् भगवद्गीता में तो स्पष्टत: **'यत्र योगेश्वर: कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धर:'** का ज्ञान-विज्ञान-समुच्चय हमारे सामने रख ही दिया गया है जिसे परम्परा सर्वोपनिषदों का दुग्धामृत मानती है।

प्रस्थानपञ्चक एकवाक्यता

इन पाँच ग्रन्थों का लक्ष्य यह बतलाना है कि कर्मकाण्ड परक तथा ज्ञानकाण्ड परक साहित्य में मुख्य-गौण भाव का तो अन्तर है किन्तु विरोध नहीं प्रत्युत दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और एक दूसरे के बिना अधूरे हैं। हमें दोनों को जोड़ कर ही देखना है ताकि अभ्युदय-नि:श्रेयस

की लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो जो कि वर्तमान सङ्क्रान्तियुग की सार्वभौम माँग है।

ज्ञान-कर्म का विरोध पूर्वपक्ष

ज्ञान और कर्म का विरोध स्पष्ट है। कर्म का मूल इच्छा है- इच्छाजन्या कृतिर्भवेत्। इच्छा रागस्वरूपिणी है जब कि ज्ञान वैराग्य का जनक है। यही ज्ञान और कर्म का विरोध है-- राग से कर्म होता है और ज्ञान से वैराग्य होता है। जिसे ज्ञान हो गया उसका राग छूट गया और जिसका राग छूट गया उसका कर्म छूट गया। अत: ज्ञानी कर्म नहीं करेगा। यही कारण है कि ज्ञानी अर्थात् संन्यासी के लिये कर्म त्याज्य मान लिया गया। इस तर्क पर वेदविज्ञान की दृष्टि से विचार करें।

सहज इच्छा

यहाँ विचारणीय यह है कि क्या सभी इच्छायें रागजन्य हैं ? थकने पर विश्राम की इच्छा होती है, भूख लगने पर भोजन की इच्छा होती है। ये इच्छायें स्वाभाविक हैं, रागजनित नहीं है। यदि इन्हें भी रागजनित मान लिया जाये तो ज्ञानी को विश्राम की अथवा भोजन की इच्छा होनी ही नहीं चाहिये। विश्राम अथवा भोजन तो हमारे अस्तित्व के लिये अनिवार्य है। जो इच्छा हमारे अस्तित्व के लिये अनिवार्य है वह इच्छा उसकी है जिसने हमें बनाया है; वह इच्छा हमारी नहीं है। हमें ईश्वर ने बनाया और उसी ने हम में विश्राम तथा भोजन की इच्छा भी डाल दी। उत्पन्न होते ही शिशु माँ का स्तनपान भी करता है और सोता भी है। यदि उसमें ये दो कार्य न हों तो वह जीवित ही नहीं रह सकता, बड़ा होना तो दूर रहा। ऐसा भी कोई नहीं कहता कि शिशु इसलिये माँ का दूध पीता है अथवा सोता है कि उसमें राग है अथवा वह अज्ञानी है। शिशु की ये इच्छायें सहज हैं। स्तनपान करने अथवा सोने से उसे पाप लग जायेगा-- यह सोचना तो अत्यन्त हास्यास्पद है। यदि ऐसा होता हो तब तो यह कहना होगा कि पाप

किये बिना जीवित ही नहीं रहा जा सकता। ऐसा कहना तो जीवन का ही अपमान करना है।

उपनिषद् कहते हैं कि पाण्डित्य से विरक्त होकर बालक के समान रहने की इच्छा रखनी चाहये- **पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्**। अभिप्राय यह है कि हमारा जीवन सहज इच्छाओं से सञ्चालित हो, रागजनित इच्छाओं से नहीं। गीता कहती है कि यूँ तो सारे कर्म दोष से उसी प्रकार आवृत हैं जिस प्रकार धूम से अग्नि किन्तु दोष युक्त भी सहज कर्म नहीं छोड़ने चाहियें:—

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।

प्रश्न होता है कि सहज कर्म का कैसे पता चले । उत्तर यह है कि आत्म-साक्षात्कार अर्थात् अपना स्वरूप जान लेने पर यह पता चलता है कि सहज (सह+ज) क्या है। किन्तु जब तक स्वयं को आत्म-साक्षात्कार न हो तब तक आत्म-साक्षात्कारकर्त्ताओं की वाणी, जो शास्त्रों में सङ्गृहीत है, से सहजकर्म की पहचान की जा सकती है इसलिये

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता
काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः।

वेदाधिगम और कर्मयोग

कठिनायी यह है कि हमें शास्त्र-विरुद्ध कर्म तो सहज लगते हैं- असत्य भाषण, परपीड़न आदि और शास्त्रोक्त कर्म असहज लगते हैं- त्याग, तप आदि। यही विपर्यय अज्ञान है। यदि शास्त्र विरुद्ध कर्म वस्तुतः सहज होते तो उन्हें करने पर हम सहज ही रहते। किन्तु असत्य भाषण करते समय हम कितने असहज हो जाते हं, इसे पकड़ने के लिये तो अब Lie-detector जैसे यन्त्र भी बन गये हैं। इस असहजता को ही पुरानी भाषा में बन्धन कहा गया है। यह कैसे हो कि हमें शास्त्र-विहित कर्म, जो कि वस्तुतः सहज हैं, सहज लगने भी लगें। इसी समस्या का समाधान

ढूँढने का प्रयत्न संसार भर के सारे मनीषी अनादि काल से करते रहे हैं। इस प्रयत्न के इतिहास का जितना प्राचीनकाल से लेकर आज तक का लेखा जोखा हमारे देश में उपलब्ध है उतना अन्यत्र कहीं नहीं-- वेद से लेकर आज तक हम यही तो प्रार्थना करते रहे हैं:-

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्मामृतं गमय

दृष्टि का लचीलापन

समस्या का समाधान ज्ञान में है, उपासना-भक्ति में है, अनासक्त कर्म में है। जिसे जो उपाय अनुकूल पड़ जाये। अभिप्राय यह है कि कर्म छूटेंगे तो अभ्युदय अवरुद्ध हो जायेगा और कर्म बन्धन बनेंगे तो नि:श्रेयस सिद्ध न होगा। कर्म हो पर बन्धन न बने यही वेद-विज्ञान है। यही युग की माँग भी है। कर्म छोड़ने की संन्यास परम्परा का प्रयोग करके हमने देख लिया। फलत: अभ्युदय तो छूटा ही, नि: श्रेयस भी कितनों को कितना हाथ लगा— कह नहीं सकते। कर्मठता से जो आर्थिक सम्पन्नता हमारे हाथ लगी— विशेषकर पश्चिम में— वह भी हमें सन्तोष न दे सकी; तनाव ही हाथ लगा।

भावी योजना

१. कम से कम किसी एक वेद- यजुर्वेद- पर उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर भाष्य हो। सहायता तो हमें श्री अरविन्द प्रभृति अनेक पथिकृद् भाष्यकारों से मिलेगी किन्तु एक वेद के क्रमबद्ध भाष्य की कमी की पूर्त्ति अभी करनी है। किसी एक वेद पर भी इस दृष्टि से भाष्य अभी नहीं हुआ है।

२. शतपथ ब्राह्मण यजुर्वेद का ब्राह्मण है। इसके ६ काण्डों पर भाष्य उपलब्ध है। इस भाष्य को पूरा करना दूसरा काम है।

उपलब्ध सामग्री को हृदयङ्गम करके इस कार्य को किया जा सकता है।

३. ईश, केन (तथा शायद मुण्डक भी) उपनिषदों पर भाष्य हैं किन्तु जिन उपनिषदों पर शाङ्कर भाष्य हैं, उन सभी उपनिषदों पर भाष्य लिखना बाकी है।

४. ब्रह्मसूत्र विद्ववज्जन भोग्य है । उस पर विज्ञान भाष्य है किन्तु उस भाष्य पर भी भाष्य आवश्यक है क्यों कि वह भाष्य जटिल है। पण्डित मधुसूदन ओझा के ग्रन्थों पर पण्डित गिरिधर शर्म्मा चतुर्वेदी जी ने कुछ भाष्य किये हैं। भाष्यों की यह परम्परा आगे चलनी चाहिये। इसके लिये ब्रह्मसूत्र पर अन्य भाष्यों का भी अनुशीलन करना होगा।

५. श्रीमद् भगवद्गीता पर पण्डित मधुसूदन ओझा तथा पण्डित मोती लाल शास्त्री ने खूब लिखा है किन्तु प्रतिश्लोक व्याख्या अभी पूरी गीता की नहीं हुई है। यह भी करणीय है।

वेद विज्ञान के क्षेत्र में कार्यरत विद्वानों के लिए उपर्युक्त पाँच कार्य इदम्प्रथमतया करणीय हैं।

❐❐❐

उपनिषदों की वेदमूलकता

[उपनिषदों की वेदों से एकवाक्यता इस लेख से स्पष्ट होती है— सम्पादक]

परम्परा ने वेद, उपनिषद्, गीता आदि समस्त आर्ष साहित्य में एकवाक्यता स्वीकार की है। वेदों को अपरा तथा उपनिषद् को परा विद्या कहने का यह अर्थ कदापि नहीं माना गया कि वेद और उपनिषद् की प्रतिपाद्य विषय वस्तु परस्पर विरोधी है, अपितु इन दोनों को परस्पर पूरक मान कर दोनों ही विद्याओं की ज्ञातव्यता प्रतिपादित की गयी है। जब शौनक मुनि ने महर्षि अंगिरा से पूछा कि किसके जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है, तब उन्होंने कहा कि ब्रह्मविदों का कहना है कि दो विद्यायें— परा और अपरा— जानने योग्य हैं। अपरा विद्या में चार वेद तथा छह वेदाङ्ग आते हैं और परा विद्या वह है जिससे अक्षर को जाना जाता है। **(मुण्डकोनिषद् १.१.३-४)** अपरा विद्या के अन्तर्गत आने वाला स्वयम् ऋग्वेद कहता है कि सारे देव अक्षर-तत्त्व में प्रतिष्ठित हैं, जो उस अक्षर-तत्त्व को नहीं जानता उसका ऋचा भी क्या हित साध सकती है **(ऋग्वेद, १.१६४.३९)**। इस प्रकार जहाँ परा विद्या की प्रतिनिधि उपनिषद् अपरा और परा दोनों को जानने की बात करती है, वहाँ अपरा विद्या का प्रतिनिधि ऋग्वेद परा विद्या के मुख्य प्रतिपाद्य अक्षर -तत्त्व के ज्ञान के बिना ऋक् क ज्ञान को भी अकार्यकारी मानता है। दूसरे शब्दों में उपनिषद् ने वेद का तथा वेद ने उपनिषद् का महत्त्व मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। ऐसी स्थिति में परम्परा से परिचित कोई भी व्यक्ति वेद और उपनिषद् में विरोध की बात सोच भी नहीं सकता।

परन्तु आधुनिक अनुसन्धाताओं में अनेक विद्वान् ऐसा कहते रहे हैं कि उपनिषदों का ज्ञानकाण्ड, वेदों के कर्मकाण्ड के विरुद्ध एक विद्रोह का स्वर था। यही नहीं कुछ अनुसन्धाता तो इस विरोध को जातीय स्वरूप देते हुए यह भी कहते हैं कि वैदिक कर्मकाण्ड का नेतृत्व ब्राह्मणवर्ग कर रहा था जबकि उपनिषदों का ज्ञान क्षत्रियवर्ग की देन है। **(संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ. ४९२)** इतना तो स्पष्ट है कि परम्परा ने अपरा और परा नामक दो विद्यायें मानी हैं। ईशोपनिषद् में इन्हें ही अविद्या और विद्या कहा है और साथ ही दोनों के ज्ञान की आवश्यकता ही प्रतिपादित नहीं की अपितु दोनों में से किसी एक की ही उपासना को अनिष्टकारी भी माना है। **(ईशोपनिषद ११)** गीता ने इन्हें ही विज्ञान तथा ज्ञान नाम देकर पुनः दोनों की आवश्यकता पर बल दिया है **(गीता ९.२)** । इस प्रकार अपरा-परा, अविद्या-विद्या, विज्ञान-ज्ञान जैसे विविध नामों से सङ्केतित वेद तथा उपनिषद् दोनों के ज्ञान की आवश्यकता भारतीय परम्परा प्रतिपादित कर रही है। जब पण्डित मधुसूदन ओझा तथा उनकी परम्परा के अन्य विद्वान् पण्डित मोतीलाल शास्त्री, पण्डित महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा चतुर्वेदी तथा डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल 'वेद-विज्ञान' शब्द का प्रयोग करते हैं तो वे विज्ञान का वह अर्थ लेते है जो तैत्तिरीय आरण्यक में दिया गया है— 'विज्ञान यज्ञविधा की व्याख्या करता है तथा कर्म की व्याख्या भी करता है' **(तैतिरीयारण्यक ८.५.१)।** इस बात को न जानने के कारण जब अनेक विद्वान् पण्डित मधुसूदन ओझा के वेद विज्ञान में वायुविमान बनाने के सूत्र मिलने की आशा करते हैं तो उन्हें निराश होना पड़ता है। पण्डित ओझा का योगदान यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के विधिवाक्यों में जिस विधि का प्रतिपादन है उसका तो स्पष्टीकरण पद्धतियों में है ही, किन्तु उस विधि की उपपत्ति जिन अर्थवाद वाक्यों में प्रतिपादित है, इन अर्थवाद वाक्यों का एक क्रमबद्ध विश्लेषण उन्होंने किया। पण्डित ओझा ने इन अर्थवाद वाक्यों के

प्रतिपाद्य विषय को ही वेद विज्ञान नाम दिया। यह वेद विज्ञान वेदों के कर्मकाण्ड तथा उपनिषदों के ज्ञान काण्ड के बीच की, इन दोनों को जोड़ने वाली, कड़ी है।

जब **कठोपनिषद् (१.२.४)** ने विद्या तथा अविद्या को एक दूसरे के विरुद्ध बता दिया तो प्रश्न होता है कि इन दोनों के बीच समन्वय कैसे सम्भव है ? उत्तर यह है कि कोई भी दो अवधारणायें न परस्पर एक दूसरे के सर्वथा समान होती हैं, न सर्वथा असमान, दोनां के बीच समानता के बिन्दु भी रहे हैं और असमानता के भी। असमानता के बिन्दुओं के कारण दोनों को पृथक् मान जाता है किन्तु समानता के बिन्दुओं पर दोनों में समन्वय भी सदा सम्भव रहता है। अपरा अर्थात् वेद तथा परा अर्थात् उपनिषदों में परस्पर असमानता के बिन्दु तो प्रसिद्ध ही हैं जिनके आधार पर एक को कर्मकाण्ड तथा दूसरे को ज्ञानकाण्ड कह दिया गया है, किन्तु प्रस्तुत लेख में हम यह दिखाने का विनम्र प्रयास करेंगे कि इन दोनों में परस्पर समानता के बिन्दु भी इतने बलवान् हैं कि ईशोपनिषद् से श्रीमद्भगवद्गीता तक सभी दोनों के समन्वय पर बल देते हैं और महर्षि कणाद अपरा विद्या के लक्ष्य अभ्युदय तथा परा के लक्ष्य निःश्रेयस, दोनों की ही सिद्धि को धर्म का लक्ष्य मानते हैं। यह धर्म की सर्वाङ्गीण व्याख्या है जो पुरु षार्थचतुष्टय तथा आश्रमचतुष्टय की व्यवस्था में भी दृष्टिगोचर होती है।

पहले हम यह देखें कि क्या उपनिषद् अपरा विद्या के कर्मकाण्ड को हेय मानते हैं। कठोपनिषद् में प्रेय और श्रेय तथा अविद्या और विद्या के विरोध को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में रेखाङ्कित किया गया है किन्तु उसी कठोपनिषद् में निचिकेता परा विद्या की जिज्ञासा करने से भी पहले अपरा विद्या की प्रतिपाद्य अग्निविद्या के सम्बन्ध में जिज्ञासा करता है और ब्रह्मवेत्ता यमराज उस जिज्ञासा का अभिनन्दन करते हुए उसे उस अग्निविद्या का उपदेश देता है जो नचिकेता के ही नाम पर नचिकेताग्नि नाम से प्रसिद्ध हुई। यदि अपरा विद्या अथवा यज्ञविद्या ब्रह्मविद्या की दृष्टि से

हेय होती तो न नचिकेता जैसा मुमुक्षु उसके बारे में जिज्ञासा करता और न यमराज जैसा ब्रह्मवेत्ता उस विद्या का उपदेश देता, बल्कि यह कहता कि नचिकेता को तो यज्ञविद्या के अनिष्टकारी प्रपंच में हो नहीं फँसना चाहिये। यह एक उदाहरण मात्र है। उपनिषदों में सर्वत्र यज्ञविद्या की प्रशंसा है, यद्यपि उसका विस्तार वहाँ नहीं, अपितु ब्राह्मण ग्रन्थों में है।

दूसरी ओर वेदों में यत्र तत्र सर्वत्र परा विद्या के मूल सूत्र बिखरे हुए हैं यद्यपि उसका विस्तार उपनिषदों में है। अभिप्राय यह है कि वेदों में जिसका मूल है, उपनिषदों में उसका विस्तार है तथा वेदों में जिसका विस्तार है व उपनिषदों में भी उसका सङ्केत है। इस प्रकार वेद और उपनिषदों का विषय एक दूसरे में इस प्रकार ओत प्रोत है कि इन दोनों को ही एक ही परम्परा की दो कड़ियाँ मानना होगा न कि एक दूसरे की विरोधी धारायें।

अब हम कतिपय उद्धरणों से यह स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार उपनिषदों के अनेक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य वेदों में भी यथावत् उपलब्ध हैं। कहीं कहीं तो यह समानता शब्दशः मिलती है, और कहीं कहीं शाब्दिक समानता न होने पर भी आशय की एकता है। स्थालीपुलाक न्याय से दिये गये इन कतिपय उद्धरणों से वेदों तथा उपनिषदों की एकवाक्यता स्पष्ट हो जाती है। वेदों को बहुदेववादी धारा में उपनिषदों को ब्रह्मवादी धारा भी अन्तर्निहित है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् **(४.४.२)** यजुर्वेद **(३२.१)** के निम्न मन्त्र को दोहराती है–

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः

यदि तत्त्व एक ही है तो अनेक देव किसलिये— इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यास्काचार्य **(निरूक्त ९.१–२)** में कहते हैं कि भिन्न भिन्न कर्मानुकूल देवता अनेक रूप इसलिये धारण करते हैं कि अनेक देवताओं

के बिना नाना कर्मों के फल की सिद्धि ही नहीं हो सकती – **न ह्येतेभ्य ऋते लोकस्य कर्मफलसिद्धिः स्यात्।** किन्तु कर्म की भिन्नता से एक ही तत्त्व के अनेक नाम हो जाते है– **''तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति अपि च कर्मपृथक्त्वात्।** इस पर व्याख्या करते हुए दुर्गाचार्य स्पष्ट करते हैं कि यह मूल आत्म तत्त्व का महान् भाग्य और ऐश्वर्य है कि उसके अनेक नाम हैं– **महाभाग्यादैश्वर्ययोगादेकात्मनामनेकधा विकुर्वन्तीनामेकैकस्याः प्रतिविकारं जातवेदा वैश्वानरो वरुणो रुद्रोऽश्विनौ उषा इत्येवमादीनि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।''** इस सबका अभिप्राय यह है कि पूरी परम्परा यह मानती है कि वेदों में आपाततः जो बहुदेववाद (पोलीथीइज्म) दिखायी देता है उसके मूल में एकेश्वरवाद (मोनोथीइज्म) ही है। अतः उपनिषदों को वेदों की मूल भावना के विरुद्ध मानना सर्वथा भ्रान्तिमूलक है।

वेदान्तदर्शन में एक ही ब्रह्म से जगत् की विविधता उत्पन्न होने की समस्या का समाधान जिस माया की अवधारणा द्वारा किया है, उस माया के लिये बृहदारण्यकोपनिषद् **(२.५.१९)** ने ऋग्वेद **(६.४.१८)** की निम्न ऋचा को उद्धृत किया है–

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शतादश।।

ऋग्वेद की इस ऋचा को उद्धृत करके बृहदारण्यकोपनिषद् ने 'इति' लगाकर यह सूचित कर दिया कि यहाँ ऋग्वेद को उद्धृत किया जा रहा है। जिसे दुर्गाचार्य ने महाभाग्य और ऐश्वर्य कहा है सम्भवतः उसे ही यहाँ माया कहा जा रहा है। यह माया ही एकता में अनेकता बना देती है।

इस अनेकता के बीच अन्तर्निहित एकता का स्मरण वेद भी उपनिषदों के समान बारम्बार कराते रहते हैं, दोनों की शब्दावली भी अनेक स्थानों पर एक ही है।

यजुर्वेद (३२.४) का निम्न मन्त्र श्वेताश्वतरोपनिषद् (२.१६) शब्दशः दोहराती है–

एष ह देवः प्रतिशोऽनुसर्वाः
पूर्वा ह जातः स उ गर्भेअन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनाँस्तिष्ठति सर्वतोमुखः।।

इतना ही नहीं ऋग्वेद (१०.८१.३) तथा यजुर्वेद (१९.१९) में आया निम्न मन्त्र भी श्वेताश्वतरोपनिषद् (३.३) में ज्यों का त्यों दोहराया गया है– **विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो**
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै–
द्यावा भूमी जनयन् देव एकः।।

इस विषय का विस्तार पुरुषसूक्त (**ऋग्वेद १०.९०**) में है– यह बात प्रसिद्ध है। वस्तुतः श्वेताश्वतरोपनिषद् (**३.१४ तथा ३.१५**) पुरुषसूक्त के प्रथम तथा द्वितीय मन्त्र को शब्दशः उद्धृत करती है।

ईशोपनिषद् **ईशावास्यमिदं सर्वम्** की घोषणा तक अकस्मात् नहीं पहुँची थी अपितु पूरे यजुर्वेद में उस तत्त्व की खोज करती हुई पहुँची थी जो तत्त्व सर्वत्र ओतप्रोत है– **तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु (यजुर्वेद, ३२.८)**

माया का सम्बन्ध तीन गुणों से है। इन तीन गुणों का उल्लेख अथर्ववेद (१०.८.४४) में स्पष्ट शब्दों में है–

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्

श्वेताश्वतरोपनिषद् (४.५) ने इन्हीं तीन गुणों का विवरण थोड़ा विस्तार से दिया है–

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्यनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।।

श्वेताश्वतरोपनिषद् की त्रिगुणात्मिका प्रकृति को भोगने वाले अज्ञानी की तथा उस प्रकृति के साक्षिमात्र ज्ञानी की अवधारणा एक रूपक द्वारा ऋग्वेद **(१.१६४.२०)** तथा अथर्ववेद **(९.९.२०)** में निम्न प्रसिद्ध मन्त्र में दी गयी है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य–
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

यह मन्त्र श्वेताश्वतरोपनिषद् **(४.६)** में ता शब्दशः दोहराया ही गया है मुण्डकोपनिषद् **(३.१.१)**में इसे दोहराने के बाद इसके ही विस्तार में निम्न मन्त्र **(३.१.२)** और दिया गया है–

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो–
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश–
–मस्य महिमानमेति वीतशोकः।

आत्मा की अजरता–अमरता तथा कामनाओं के त्याग की बात उपनिषदों में बारम्बार कही गयी है। कठोपनिषद् **(१.२.१८)** 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' की घोषणा करती है तो मुण्डकोपनिषद् **(३.२.२)** कामनाओं के विलय की बात करती है–

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्वि–
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।।

अथर्ववेद **(१०.८.४४)** में ये दोनों अवधारणायें स्पष्ट रूप से उपलब्ध हैं–

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्यो-
-रात्मानं धीरमजरं युवानम्।।

अध्यात्म के अतिरिक्त सामान्य नैतिकता के नियम वेदों में तो भरपूर हैं ही, उपनिषद् भी अध्यात्म के लिये नैतिकता का पालन अनिवार्य मानती है। ऋग्वेद **(१०.११९.६)**बाँट कर खाने का उपदेश देता है-

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।।

दूसरी ओर तैत्तिरीयोपनिषद् **(३.१०)** भी घर आये को आतिथ्य देने से इनकार करने का निषेध करती हुई कहती है-

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद् व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्।

इस विषय का बहुत विस्तार किया जा सकता है किन्तु सार की बात यह है कि वेद **(यजुर्वेद ३१.१८)** तथा उपनिषद् **(श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.८)** का मूल स्वर एक ही है। दोनों एक स्वर में कहते हैं-

वेदाहमेतं पुरुष महात्ममादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।

इस लेख में केवल कतिपय चुने हुए उद्धरणों के आधार पर यह बताने का प्रयत्न किया है कि उपनिषद् की परा विद्या के सभी मूल घटक वेदों में यथावत् उपलब्ध हैं। अतः उपनिषदों को वेदों की धारा से पृथक् मानना प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। वेद और उपनिषद् दोनों को मिलाकर समग्र जीवन दृष्टि प्राप्त होती है, दोनों एक दूसरे के बिना अधूरे हैं।

वेद और उपनिषद् का समन्वय वस्तुतः कर्म और ज्ञान, अभ्युदय और निःश्रेयस, विज्ञान और धर्म, पश्चिम और पूर्व, गतिशीलता और सनातनता जैसी परस्पर विरोधी दिखायी देने वाली, परन्तु वस्तुतः एक दूसरे की पूरक, अवधारणाओं के समन्वय का उपलक्षण मात्र है। यह सर्वग्राही समन्वय व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा संसार भर के हित में है।

यदि कोई इस समन्वय की प्रवृत्ति को संहिता, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, गीता, षड्दर्शन और पुराणों में खोजना चाहेगा तो उसे निराश नहीं होना पड़ेगा। समय की आवश्यकता भी इस समन्वय के स्वर को रेखाङ्कित करने की है।

❐❐❐

वैदिक प्राण तत्त्व

[वेदो में देवों की स्तुति हैं और देव प्राण हैं— इस दृष्टि से यह लेख महत्त्वपूर्ण है—सम्पादक]

प्राण

सामान्यतः प्राण शब्द प्र उपसर्ग पूर्वक अन् धातु से निष्पन्न माना गया है। जिसके द्वारा सब प्राणवान् है वही प्राण है- **तद्यत्प्राणेत तस्मात्प्राणः** (**जैमिनीय ब्राह्मण २.५.७**)। किन्तु शतपथ-ब्राह्मण में प्राण की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी दी है। प्राण का प्राणत्व यह है कि प्राण द्वारा अन्न आत्मा में धारण किया जाता है- **यद्वै प्राणेनान्नमात्मन्प्रणयते तत्प्राणस्य प्राणत्वम्** (**शतपथ ब्राह्मण** १२.९.१.१४)। वस्तुतः अन्न का आत्मा में धारण किया जाना ही हमारे जीवित रहने का कारण है, इसलिये उपर्युक्त प्राण शब्द के दोनों अर्थों में तात्त्विक भेद नहीं है।

प्राण ही अक्षय अथवा अमृत है- **अक्षीयं वा अमृतमेते प्राणाः** (**काण्व शतपथ** ३.१.११.६)। सब प्राण के सहारे रहते हैं, इसलिए प्राण ही श्री है- **अथ यत्प्राणा अश्रयन्त तस्मादु प्राणाः श्रियः** (**शतपथ ब्राह्मण** ६.१.१.४)। प्राण निरन्तर गतिशील रहते हैं- **अध्रुवं वै तद् यत प्राणः** (शतपथ ब्राह्मण १०.२.६.१९)षड्विंश कहता है प्राण सदा उद्यत रहते हैं-**उद्यत इव हि अयं प्राणः** (**षड्विंश ब्राह्मण** २.२)। प्राण ही यह सब कुछ बना है- **प्राणो वा इदं सर्वमभवत्** (**जैमिनीय ब्राह्मण** ३.३७७)। यदि कोई जानना चाहे कि एक देवता कौन सा है तो उत्तर होगा कि प्राण ही एक देवता है- **कतमैका देवतेति प्राण इति** (**जैमिनीय ब्राह्मण** २.७७)। प्राण से अधिक प्रिय कुछ भी नहीं है- **न वै प्राणात्**

प्रियः किञ्चनास्ति (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.२७२)। एक प्राण ही समस्त अंगों की रक्षा करता है- **एकः प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यवति** (**तैत्तिरीय संहिता** ७.५८.५)।

प्राण से केवल मनुष्य और पशु ही नहीं, देवता भी जीवित रहते हैं- **प्राणं वा देवा अनु प्राणन्ति मनुष्या पशवश्च** (**तैत्तिरीयारण्यक** ८.३.१)। प्राण ही ज्येष्ठ है, प्राण ही श्रेष्ठ है- **प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च** (**शतपथ ब्राह्मण** १४.९.२.१)। जैमिनीय ब्राह्मण का कहना है कि प्राण अन्तिम है- **प्राणोऽन्त्यम्** (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.३०९)। प्राण में शरीर प्रतिष्ठित है। शरीर में प्राण प्रतिष्ठित है- **प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितं शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः** (**तैत्तिरीयारण्यक** ७.९.१)। प्राण से ही यज्ञ का विस्तार होता है- **प्राणेन यज्ञः सन्ततः** (**मैत्रायणी संहिता** ४.६.२)। प्राण मधु है- **प्राणो वै मधु** (**शतपथ ब्राह्मण** १४.१.३.३०)।

पाप प्राण को छू भी नहीं पाता- **तं पाप्मा नाऽन्वसृज्यत। न ह्येतेन प्राणेन पापं वदति न पापं ध्यायति न पापं पश्यति न पापं श्रृणोति न पापं गन्धमपानिति। तेनाऽपहत्य मृत्युमपहत्य पाप्मानं स्वर्गं लोकमायन्** (**जैमिनीयोपनिषद्** २.१.१.१९-२०)। जिस प्रकार क्षत्रिय सबकी रक्षा करता है उसी प्रकार प्राण सबकी रक्षा करता है- **प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते हैन प्राणः।** (**शतपथ ब्राह्मण** १४.८.१४.४)। प्राण सभी भूतों के लिए हितकर है- **प्राणो हि सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितः**। जो भी सत्य है वह प्राण है-**यत्सत्यमिति प्राण सः** (**जैमिनीय ब्राह्मण** ३.३६०)। प्राण महान् है- **प्राण एव महान्** (**शतपथ ब्राह्मण** १०.३.५.४)। प्राण रक्षक है। वह स्वयं नष्ट न होता हुआ सबकी रक्षा करता है-**प्राणो वै गोपाः स हीदं सर्वमनिपद्यमानो गोपायति** (**जैमिनीयोपनिषद्** ३.६.९.२)।

प्राण में ही सर्वभूत रत रहते हैं-**प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रतानि** (**शतपथ ब्राह्मण** १४.८.१.३)। प्राण विश्व की ज्योति है- **प्राणो वै विश्वज्योतिः** (**शतपथ ब्राह्मण** ७.४.२.२८)।

हमने ऊपर कहा कि प्राण ही एक देवता है। वस्तुतः सभी देवता प्राण हैं–**प्राणा देवाः** (**शतपथ ब्राह्मण** ७.५.२.१)। अपि च (**तैत्तिरीय संहिता** ६.१.४.५ **काठक संहिता** २७.१) अग्नि भी प्राण है– **अग्निर्वै प्राणः**। आहवनीय, गार्हपत्य, अन्वाहार्य, पचन–ये सभी अग्नियां प्राण हैं–**ते वा एते प्राणाः एव यदग्नयः** (**शतपथ ब्राह्मण** २.२.२.१८)। यदि पार्थिवदेव अग्निप्राण है तो अन्तरिक्ष का देव वायु अथवा इन्द्र भी प्राण है– **वातः प्राणः** (**तैत्तिरीय संहिता** ७.५.२५.१)। द्युलोक का देव आदित्य भी प्राण है– **आदित्यः प्राणः** (**तैत्तिरीय संहिता** २५.२.५.४)। अपि च, **आदित्यो वै प्राणः** (**जैमिनीयोपनिषद्** ३.१.४.९)। **प्राणो ह्येष तपति**– (**ऐतरेयारण्यक** २.२.१.३)।

इस प्रकार पार्थिव, आन्तरिक्ष्य तथा दिव्य सभी देवता प्राणरूप हैं।

प्राण का विशेष सम्बन्ध आन्तरिक्ष्य वायु अथवा इन्द्र रुद्र से है– **अन्तरिक्षदेवत्यो हि प्राणः** (**तैत्तिरीय संहिता** ६.४.५.५)। वस्तुतः 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्तानुसार अधिदैवत और अध्यात्म में परस्पर तालमेल है। जो देवों में वायु है; वह मनुष्यों में प्राण है। जो देवों में आदित्य है, वह मनुष्यों में चक्षु है। जो देवों में दिशा है, वह मनुष्यों में श्रोत्र है। जो देवों में पृथिवी है, वह मनुष्यों में वाक् है–**प्राणो वै मनुष्यधूर्वायुर्देवधूः। चक्षुर्वै मनुष्यधूरादित्यो देवधूः। श्रोत्रं वै मनुष्यधूर्दिशो देवधूः। वाग्वै मनुष्यधूः पृथिवी देवधूः** (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.२७०)। पुरुष में रहने वाले दस प्राण ही रुद्र हैं, ग्यारहवीं आत्मा है। ये जब निकलते हैं तो मनुष्य को रुलाते हैं, इसलिए ये रुद्र कहलाते हैं – **कतमे ते रुद्रा इति, दश पुरुषे प्राणा इति होवाच। आत्मैकादशस्ते यदोत्क्रामन्तो यन्ति, अथ रोदयन्ति, तस्माद्रुद्रा इति** (**जैमिनीय ब्राह्मण** २.७७)। जिस प्रकार प्राण का सम्बन्ध वायु से तथा रुद्र से है, उसी प्रकार इन्द्र से है– **ऐन्द्रः खलु वै देवतया प्राणः** (**तैत्तिरीय संहिता** ६.३.११.२)।

प्राण का वायु से सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों ने इसे दोहराया है– **प्राणो वै वायुः**। (**तैत्तिरीय संहिता** २.१.१.२, **मैत्रायणी संहिता** २.५.१; ३.४.३; ४.५.८; ६.२ **काठक संहिता** २१.३, **कौषीतकिब्राह्मण** ५.८; १३.५ **गोपथ ब्राह्मण २.१.२६ जैमिनीय ब्राह्मण** २.१३७; १८४; ३८४; १९७;३८९;३.२२७ **ताण्ड्य ब्राह्मण** ४.६.८, **शतपथ ब्राह्मण** ४.१.१.१५; ६.२.२.६)। इसलिए प्राण से वायु प्रसन्न की जाती है– **वातं प्राणेन** (**मैत्रायणी संहिता** ३.१५.२)। प्रजापति ही वायु बनकर प्रजा में प्राण बना–**वायुर्भूत्वा (प्रजापतिः) प्रजानां प्राणोऽभवत्** (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.३१४)।

विवक्षा की दृष्टि से प्राण के अनेक प्रकार हैं। जैमिनीयोपनिषद् में उन सब विवक्षाओं को एकत्र सङ्कलित किया गया है। एक प्राण की अपेक्षा उसका नाम प्राण है। दो होने पर वही प्राण अपान हो जाता है। तीन होने पर प्राण, अपान, व्यान; चार होने पर प्राण, अपान, व्यान, समान, पाँच होने पर प्राण, अपान, व्यान, समान, अवाक् छः होने पर प्राण, अपान, व्यान, समान, अवाक्, उदान, सात होने पर एक मुख, दो नासिका पुट, दो कान और दो चक्षु इस प्रकार सात शीर्षस्थ प्राण होते हैं। इन्हीं सात में दो अवाक् अर्थात् मूत्र स्थान और मल स्थान जोड़ने पर नौ प्राण हो जाते हैं तथा इन्हीं में नाभि जोड़ने पर दस प्राण होते हैं। सारी प्रजा प्राण ही है, इसलिए प्राण अनेक हैं।

जैमिनीय ब्राह्मण में नौ प्राणों का भी उल्लेख है– **ते पुनर्नव भवन्ति** (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.३७)। गोपथ ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में तेरह प्राणों का उल्लेख है– **त्रयोदश इमे पुरुषे प्राणः** (**गोपथ** १५.५)। ऊपर हम कह चुके हैं कि दस प्राण और एक आत्मा को मिलाकर ग्यारह रुद्र बनते हैं। ऐतरेय–आरण्यक में बारह प्राण गिनवाये गए हैं सात शीर्षण्य, दो स्तन्य तथा तीन अवाक् (मूत्र द्वार, मलद्वार तथा वीर्य द्वार) प्राण गिनवाये गए हैं (**ऐतरेयारण्यक** १.५.१)। शतपथ ब्राह्मण ने इसी में नाभि को

जोड़ते हुए तेरह प्राण कहे हैं–**नाभिस्त्रयोदशी** (**शतपथ ब्राह्मण** १२.३.२.२)।

शतपथ ब्राह्मण में पाँच शीर्षण्य प्राणों का उल्लेख करते हुए मन, वाक् प्राण, चक्षु और श्रोत्र को गिनवाया है। वस्तुतः प्राण सारे शरीर में सञ्चरण करता है– **सोऽयं प्राणः सर्वाण्यङ्गान्यनुसञ्चरति** (**शतपथ ब्राह्मण** १.३.२.३)। ऊपर हमने जो प्राणों की संख्या और नाम गिनवाये हैं वे प्राण के केन्द्र हैं।

वाक्, प्राण और मन–आत्मा के ये तीन मनोता हैं और ये तीनों सदा साथ रहते हैं। प्राण और वाक् का इतना गहरा सम्बन्ध है कि मैत्रायणी संहिता में दोनों का तादात्म्य मान लिया गया है– **प्राणो वै वाक्** (**मैत्रायणी संहिता** ३.२.८)।

शतपथ ब्राह्मण कहता है वाक् और प्राण का जोड़ा है– **वाक् च प्राणश्च मिथुनम्** (**शतपथ ब्राह्मण** १.४.१.२)। ऐतरेय–आरण्यक् वाक्, प्राण और मन के पारस्परिक सम्बन्ध को बताते हुए कहता है वाक् पूर्वरूप अर्थात् स्थूल है, मन उत्तररूप अर्थात् सूक्ष्म है। प्राण इन दोनों को जोड़ने वाली बीच की कड़ी है– **वाक् पूर्वरूपं मन उत्तर रूपं प्राणः संहिता** (**ऐतरेयारण्यक** ३.१.१)। ऐतरेय–आरण्यक इसी बात को आगे बढ़ाते हुए कहता है कि वाक् प्राण से ही जुड़ी हुई है– **वाक् प्राणेन संहिता** (**ऐतरेयारण्यक** ३.१.६)। जैमिनीयब्राह्मण का कहना है कि वाक् अक्षर है, प्राण उसी की रश्मि है– **वाग्वाक्षरं तस्यैव प्राण एवांशुः** (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.११५)। शतपथ ब्राह्मण का कहना है, वाक् कर्म है प्राण वाक् का पति है– **वाग्वा इदं कर्म प्राणो वाचस्पतिः** (**शतपथ ब्राह्मण** ३.६.१.१.९)। प्राण से ही वाक् का विस्तार होता है–**प्राणैर्वाक् सन्ता** (**जैमिनीय ब्राह्मण** ३.११९)। वाक् माता है, प्राण पुत्र है– **वाग्वै माता प्राणः पुत्रः** (**ऐतरेयारण्यक** ३.१.६)। प्राण वाक् का सत्य है– **वाचः सत्यं यत्प्राणः** (**जैमिनीय ब्राह्मण** २.४२५)। जैमिनीय ब्राह्मण वाक् और प्राण के मिथुन को दिव्य मिथुन बताता है–**तद्वै दैव्यं मिथुनं यद् वाक् च**

प्राणश्च (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.३०६)। सब प्राण वाक् में प्रतिष्ठित हैं-**सर्वे प्राणा वाचि प्रतिष्ठिताः** (**शतपथ ब्राह्मण** १२.८.२.२५)। प्राण वाक् का रस है-**तस्याः प्राण एव रसः** (**जैमिनीयोपनिषद्** १.१.७)।

प्राण का मन से इतना गहरा सम्बन्ध है कि षड्विंश ब्राह्मण में मन को प्राणों का अर्धभाग बताया गया है-**अर्धभाग्वै मनः प्राणानाम्** (**षड्विंश ब्राह्मण** १.५)। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्राण मन से ही उत्पन्न होते हैं और मन से ही जुड़े हैं-**इमे वै प्राणा मनोजाता मनोयुजः** (**शतपथ ब्राह्मण** ३.२.२.१.३)। मन प्राण में एकीभूत होकर प्रतिष्ठित हैं- **मन इदं सर्वमेकं भूत्वा प्राणे प्रतिष्ठितम्** (**जैमिनीय ब्राह्मण** ३.३७१)। मन ही प्राणों को धारण किये हैं-**मनसा हि प्राणो धृतः** (**काठक संहिता** २७.१)। मन से ही प्राण प्राप्त होते हैं-**मनसैव प्राणमाप्नोति** (**मैत्रायणी संहिता** ४.५.५)।

प्राण मन के पीछे चलता है-**मनो वा अनुप्राणाः** (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.१६)। मन प्राणों का अधिपति है। मन में ही सब प्राण प्रतिष्ठित हैं- **मनो वै प्राणानामधिपतिर्मनसि हि सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः** (**शतपथ ब्राह्मण** १४.३.२.१)। वस्तुतः प्राण बीच में रहकर वाक् और मन दोनों को स्पर्श करता है-**प्राणेनैव वाक् च मनश्चाभिहिते** (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.१९)। इस प्रकार प्राण वाक् और मन को जोड़ने वाली रज्जु है- **प्राणो रज्जुः** (**जैमिनीय ब्राह्मण** १.१९)।

प्राणों के भेद

प्राण से भूत उत्पन्न होता है। प्राण और भूत मिलकर देव कहलाते हैं। ये देवता प्राण रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। जिन प्राणियों में वे विशेष रूप हैं, वे प्राणी भी उन्हीं प्राणों से जाने जाते हैं। जिन ग्रह-नक्षत्रों में वे हैं वे भी इसी नाम से जाने जाते हैं और जिन ऋषियों ने इनका साक्षात्कार किया, वे भी इन्हीं नामों से जाने जाते हैं।

सभी प्राणों का आयतन मण्डलाकार है, किन्तु इन्द्र के द्वारा फैलाये गये प्राण अर्द्धवृत्ताकार हैं। ये दो प्रकार के हैं– आग्नेयप्राण और सौम्यप्राण। ये दोनों मिलकर ही पूर्ण होते हैं। इन्हीं से सृष्टि उत्पन्न होती है।

पुरुषसूक्त में प्राण के ५ भेद बताये हैं– पुरुष, अश्व, गौ, अज और अवि–

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिक्रे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः।।

तारामण्डल में भी सप्त–ऋषि में ४ आत्मा रूप में हैं, दो पक्ष रूप में और एक पुच्छ रूप में है। इनके नाम हैं–१ मरीचि, २ वसिष्ठ, ३ अङ्गिरा ये तीन त्रिकोण में; तथा ४ अत्रि, ५ पुलस्त्य, ६ पुलह, ७ क्रतु, ये चार चतुष्कोण में। जिन्होंने इन प्राणों का दर्शन किया वे मनुष्य भी इन्हीं नामों से जाने जाने लगे।

इन ऋषियों के बारे में पुराण की अनेक कथाएँ प्रतीकात्मक हैं। उनका शब्दार्थ लेना भ्रान्ति होगी। उदाहरणतः यह कहा गया है कि अगस्त्य ऋषि ने समुद्र पी लिया। यह अगस्त्य नक्षत्र वर्षा के अन्त में दिखाई देता है इसलिए इसके उदित होने पर अन्तरिक्ष का समुद्र सूख जाता है और यही इसके द्वारा समुद्र का पी लिया जाना है।

तीन गुणों के तारतम्य से ही पाँच प्राण बनते हैं। जा परोरज है वह ऋषि प्राण है। उसका सम्बन्ध स्वयम्भू से है। रजःप्रवृत्तपितृप्राण का सम्बन्ध परमेष्ठी से है। रजोभावात्मक देवप्राण सूर्य से जुड़ा है रजस्तमसात्मक पशुप्राण चन्द्रमा से जुड़ा है तथा तमःप्रधान भू–प्राण पृथ्वी से जुड़ा है।

ये ही पाँचों प्राण, आपः, वाक्, अन्न तथा अन्नाद कहलाते हैं तथा इनका सम्बन्ध क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, सोम और अग्नि से है। इन पाँच प्राणों का उल्लेख उपनिषद् इन शब्दों में करता है–

पञ्चस्त्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां, पञ्चप्राणोर्म्मि, पञ्चबुद्ध्यादिमूलान्।
पञ्चावर्तां पञ्च दुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद् १.५)

ऊपर कहा जा चुका है कि प्राण क्रिया है। यह क्रिया सङ्कोच और प्रसार के रूप में होती है। वेद में इसे 'एति प्रेति' कहा जाता है। जब तक प्राण का आवागमन है तभी तक जीवन ह। विश्व का अणु मात्र भी स्पन्दन से रहित नहीं है, इसलिये जगत् में निष्प्राण कुछ भी नहीं है और क्योंकि जहाँ जहाँ प्राण है वहाँ वहाँ प्रज्ञा है, इसलिये संसार में जड भी कुछ नहीं है। प्राण प्रतिक्षण क्रियाशील है, उसमें रूप, रस आदि नहीं हैं। वह पदार्थ को धारण करता है। वह सदा भूत में रहता है। वह परमाणुओं से जुड़ता है, वह मन को भी बाँध लेता है, वह थोड़े स्थान में रहकर अधिक स्थान घेरता है। प्राण के सब व्यापार मन से ही होते हैं। मन जागता-सोता है, किन्तु प्राण न कभी थकता है, न कभी सोता है। यह जहाँ अधिक होता है, वहाँ से जहाँ कम होता है वहाँ चला जाता है । तीन लोकों में पृथ्वी का देवता अपान-अग्नि है, वायु का व्यान-अग्नि और आदित्य का प्राण-अग्नि।

प्राण ही मन में और वाक् में क्रिया के द्वारा इच्छा और अर्थ को सक्रिय बनाता है। प्राण के साहचर्य से मन सीमित हो जाता है। मन रस रूप है, प्राण बल रूप। मन अपरिच्छिन्न है। प्राण उसे परिच्छिन्न करता है। प्राण अनन्त हैं, इसलिये वे पूरे मन में व्याप्त रहते हैं। प्राणों में प्रवाहनित्यता है।

❐❐❐

ऋषि –तत्त्व

[इस लेख में प्रमाणों द्वारा ऋषियों के सम्बन्ध में कुछ अल्प-विदित तथ्यों को उद्घाटित किया गया है—सम्पादक]

ऋषि शब्द का प्रयोग चार अर्थों में हुआ है- १. असत् २. तारा(नक्षत्र) ३. मन्त्र दृष्टा ४. मन्त्र वक्ता।

प्रस्तुत निबन्ध में हम असद् - रूप ऋषि का संक्षिप्त विवरण देंगे।

शतपथ ब्राह्मण में ऋषियों के असद्-रूप होने का स्पष्ट उल्लेख है-

'असत्' - वा- इदमग्रे-आसीत्। तदाहुः- किं तत्-'असत्' आसीत?' इति। 'ऋषयो वाव तदग्रे-असदासीत्'। तदाहुः- 'के ते ऋषयः'? इति। 'प्राणा वा ऋषयः'। ते यत् पुरा-अस्मात्-सर्वस्मात्-इदं (विश्वं) इच्छन्तः श्रमेण तपसा-अरिषन्, तस्मात्- ऋषयः'। - शत. ब्रा. ६।१।१।१,२।

यहां स्पष्ट रूप में ऋषियों को प्राण कहा गया है।

यहाँ कहा गया है कि पहले असत् ही था। प्रश्न हुआ कि असत् क्या है? उत्तर मिला कि असत् का अर्थ है- ऋषि। फिर प्रश्न हुआ कि ऋषि कौन है? उत्तर मिला प्राण। यद्यपि पितर और देवता भी प्राण हैं किन्तु ऋषि शुद्ध प्राण है इसलिए मनु ने ऋषियों से पितरों की और पितरों से देवताओं की उत्पत्ति मानी है- **ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः** । ऋषि शुद्ध प्राण होने के कारण एकजातीय है, देव प्राणों का समुदाय होने के कारण नानाजातीय प्राणसमुदाय है।

प्राण असत् है तो वाक् सद् है और मन सदसद् है

ऋषि असत् है– यह ब्रह्म का स्वरूप है। ब्रह्म के शेष दो रूप सद् और सदसद् हैं। असद् प्राण है, तो सद् वाक् है और सदसद् मन है– **नैव वा इदमग्रेऽसदासीन्नैव सदासीत्। आसीदिव वा इदमग्रे नैवासीत्तद्ध तन्मन एवास। नासदासीन्नो सदासीत्तदानीमिति नैव हि सन्मनो नवासत्– शतपथ १०.५.३.१.२**; ये तीनों मिलकर ही कार्य ब्रह्म कहलाते हैं। अव्ययपुरुष की पाँच कलाओं में से इन तीन का सृष्टि में योगदान है, जबकि आनन्द और विज्ञान का मुक्ति में योगदान है। इनमें प्राण से अक्षर पुरुष का और वाक् से क्षर पुरुष का विकास होता है। प्राण यत् है और वाक् जू है। यत् और जू मिलकर यजुः बनता है। ये प्राण और वाक् प्रलय के समय भी शेष रहते हैं– इसलिए '**शेषे यजुः शब्दः**' कहा जाता है।

आज की भाषा में प्राण को एनर्जी तथा वाक् को मैटर कह सकते हैं। मन तो माइन्ड है ही। ये तीनों मिलकर सृष्टि का निर्माण करते हैं। मन कामना करता है तो प्राण तप करते हैं तथा वाक् श्रम करती है। तप आन्तरिक क्रिया है, श्रम बाह्य क्रिया है। इस प्रकार प्राण रूप ऋषि अपनी तपरूप आन्तरिक क्रिया से सृष्टि के निर्माण में योगदान देते हैं।

प्राण को असत् इसलिए कहा जाता है कि सत् वह है जिसमें प्राण रहता है और क्योंकि प्राण में प्राण नहीं रहता इसलिये प्राण को असत् कहते हैं। इसी प्रकार वैशेषिक द्रव्य, गुण और कर्म को सत् कहते हैं क्योंकि इनमें सत्ता रहती है किन्तु सत्ता में सत्ता नहीं इसलिए सत्ता को सत् नहीं कहा जा सकता।

विश्व के पाँच पर्वों में प्राण

श्वेताश्वतरोपनिषद् में विश्व के पञ्चपर्वा होने का उल्लेख है– **पञ्चपर्वामधीमः**। ब्राह्मणग्रन्थों में इन पाँच पर्वों का उल्लेख इस रूप में है– स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी। इनमें स्वयम्भू अव्यक्त है, परमेष्ठी व्यक्ताव्यक्त है, शेष तीनों व्यक्त हैं।

स्वयम्भू के प्राण ऋषि हैं, परमेष्ठी के प्राण पितृ हैं, सौर प्राण देव हैं, चान्द्र प्राण गन्धर्व और पार्थिव प्राण वैश्वानर हैं। स्वयम्भू में ज्ञान ज्योति है, सूर्य में स्वःज्योति है। स्वयम्भू के प्राण ऋषि हैं और सूर्य के प्राण देव। शेष तीनों पिण्डों में ज्योति नहीं है, इसलिए परमेष्ठी चन्द्रमा और पृथ्वी के प्राण असुर प्राण कहलाते हैं। ऋषि प्राण मौलिक हैं। ये अनेक हैं। जिनके समन्वय से पितृ प्राण उत्पन्न होते हैं वे पितर प्राण भी अनेक प्रकार के हैं। उनके समन्वय से देवता प्राण उत्पन्न होते हैं।

ऋषि मूल प्राण

ये ऋषि अनेक प्रकार के हैं- **विरूपास इद् ऋषयस्त इद्वम्भीरवेपसः-ऋक् सं.१०/६२/५।** ऋषि प्राण से ही पञ्च तन्मात्राएँ, धातु वर्ग, तेज, प्रज्ञा, इन्द्रियाँ, कर्म, पितृ, देवता तथा असुर इन सबका उदय होता है।

सप्तर्षि

ऋग्वेद का एक मन्त्र है जिसमें कहा गया है कि ऋषियों में षड् यम अर्थात् युग्म रूप में हैं तथा एक सातवाँ एकाकी है।

साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षडित् यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामशः स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः।।

(ऋक् १/२६४/१५)

इस मन्त्र का आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तीनों ही प्रकार का अर्थ सम्भव है। माधवाचार्य ने दो-दो मास की छः ऋतुओं को युग्म में विचरण करने वाला माना है तथा अधिक मास को एकाकी विचरण करने वाला सातवाँ मास माना। यह अधिदैव अर्थ हुआ। अध्यात्म में दो नेत्र, दो कान तथा दो नासिका ये छः प्राण युग्म हैं तथा सातवाँ मुख एकाकी है।

आधिभौतिक में सात ताराओं में छः युग्म रूप में हैं तथा एक अकेला है। अध्यात्म का विवेचन अधिक विस्तार से भी किया जा सकता है।

अध्यात्म ऋषि चार गुहाओं में हैं–**१. शिरोगुहा, २. उरोगुहा, ३. उदरगुहा, ४. बस्तिगुहा।** इनमें प्रत्येक में सात सात प्राण हैं– दो द्वन्द्व रूप में एक अकेला।

१. **शिरोगुहा**– दो कान, दो आँख, दो नासिका एक मुख। इनके केन्द्र में ब्रह्मरन्ध्र है जो ज्ञानशक्ति देता है।

२. **उरोगुहा**– दो बाहु, दो फुफ्फुस, दो स्तन युगल रूप में है तथा इनके केन्द्र में कण्ठकूप है जो पराक्रम देता है।

३. **उदरगुहा**– यकृत और प्लीहा अर्थात् अमाशय और पक्वाशय दो, वृक्क दो तथा नाभि एक। इनके केन्द्र में हृदय है जो अन्न को सङ्ग्रह तथा विभाजन की शक्ति देता है।

४. **बस्तिगुहा**– दो पाँव, मूत्र और वीर्य के दो छिद्र, दो अण्ड कोष तथा गुदा। इनके केन्द्र में नाभि है जो शरीर के कर्म को चलाने वाली उत्सर्ग शक्ति देती है।

प्राण–रूप ऋषियों के कर्म

शतपथ ब्राह्मण में प्रसिद्ध ऋषियों का विवेचन स्पष्टतः प्राणों के रूप में है तथा उन प्राणों के पृथक्–पृथक् कर्म भी बताये गये हैं–

१. वसिष्ठ मुख्य प्राण है। यह प्राण सब इन्दियों को शरीर में वास देता है। बिना प्राण के कोई इन्द्रिय नहीं ठहर सकती।

प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिः। यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठः।
अथो यद् वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः।।

शतपथ, ८/१/१/६

२. दूसरा प्राण भरद्वाज है। यह मन है। मन का निर्माण वाज अर्थात् अन्न से होता है।

मनो वै भरद्वाज ऋषिः। अन्नं वाजः। यो वै मनो बिभर्ति। सोऽन्नं वाजं भरति। तस्मान्मनो भरद्वाज ऋषिः।।

शतपथ,८/१/१/६

३. चक्षु जमदग्नि ऋषि है। जमदग्नि जगमत् है। जगमत् का अर्थ है जिसने जगत् को जान लिया। चक्षु जगत् को देखता है। इसलिये जमदग्नि कहलाता है।

चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः। यदनेन जगत्पश्यति, अथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्नि ऋषिः-

(शतपथ, ८/१/२/३)

४. श्रोत्र विश्वामित्र है। कान से हम जिसकी बात सुनते हैं, वह हमारा मित्र हो जाता है। इसलिये श्रोत्र ही विश्वामित्र है।

श्रोत्रं व विश्वामित्र ऋषिः य अनेन सर्वतः शृणोति। अथो यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति तस्माच्छ्रुतं विश्वामित्र ऋषिः।

(शतपथ, ८/१/२/६)

५. वाक् विश्वकर्मा है क्योंकि उसने ही सब संसार बनाया है।

वाग्वै विश्वकर्म ऋषिः वाचा हींद सर्वं कृतम्। तस्माद् वाग् विश्वकर्म ऋषिः

(शतपथ, ८/१/२/९)

ऋषि-कर्म

शास्त्रों में इन सब ऋषियों के अलग-अलग कार्य दिये हैं-१. अङ्गिरा प्राण से "**कर्मप्रवणता**" उत्पन्न होती है। जिसका अङ्गिरा प्राण मूर्च्छित रहता है, वह सर्वथा अकर्मण्य, आलसी बना रहता है। २. वसिष्ठ प्राण से "**ओजस्विता**" का उदय होता है। जिसका वसिष्ठ प्राण मूर्च्छित

रहता है, उसका मुख कान्तिहीन, उदासीन रहता है। ३. अत्रिप्राण से ''**अनसूया**'' वृत्ति का उदय होता है। जिनमें अत्रिप्राण मूर्च्छित रहता है, वह सदा दूसरों की निन्दा किया करता है, परदोषदर्शन का अनुगामी बना रहता है। ४. पुलस्त्यप्राण से ''**घातक**'' वृत्ति का साम्राज्य रहता है। ५. क्रतुप्राण से ''**अध्यवसाय**'' वृत्ति जागृत रहती है। ६. दक्षप्राण ''**व्यवसायबुद्धि**'' का प्रवर्तक बनता है। ७. कश्यपप्राण ''**पुरन्ध्रिता**'' तथा ''**प्रजावात्सल्य**'' का प्रवर्तक है। जिसका कश्यपप्राण मूर्च्छित रहता है, वह न तो प्रजासन्तति का ही पात्र बनता है, न उसकी वृत्ति में वात्सल्य का ही उदय होता है। ८. विश्वामित्रप्राण से ''**आयुःस्वरूपरक्षा**'' तथा दृढ़ता का उदय होता है। ९. भृगुप्राण से ''**विद्याप्रवणता**'' का आविर्भाव होता है। १०. अगस्त्यप्राण से ''**परोपकारवृत्ति**'' जागृत रहती है। ११. मरीचिप्राण से ''**स्वदोत्पत्ति, तथा स्वभावमार्दव**'' का उदय होता है। इन प्राणों के सन्निवेश तारतम्य से पदार्थों में यथेच्छ परिवर्तन किया जा सकता है।

उपसंहार

इस प्रकार असद् रूप ऋषि-प्राण सृष्टि के निर्माण में समष्टि के स्तर पर मन तथा वाक् के साथ क्रिया के रूप में सहायक होते हैं। व्यष्टि के स्तर पर यही ऋषि प्राण हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। प्राण के एक ओर मन है, दूसरी ओर वाक् है। इसलिए प्राण को रज्जु कहा गया है जो वाक् और मन को जोड़ती है- **प्राणेनैव वाक् च मनश्चाभिहिते, प्राणः रज्जु**- जैमिनीयब्राह्मण १.१९ । इन प्राणां में भी ऋषि प्राण प्रथम तथा ज्ञान-प्रधान होने के कारण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

❐❐❐

पितृसमीक्षायाः भूमिका

[यह लेख वैज्ञानिकों के लिये अनेक नयी स्थापनायें प्रस्तुत करता है। वेद सम्बन्धी चर्चाओं में ऋषियों और देवों की चर्चा तो रहती है किन्तु प्रायः पितरों की चर्चा नहीं होती। वस्तुस्थिति यह है कि मनु के अनुसार पितरों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि उन्होंने कहा है कि ऋषि से पितर और पितरों से देव तथा देवों से समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है — सम्पादक]

अस्ति किञ्चदपूर्वं सुदिनाहं योधपुर-विश्व-विद्यालयीय-संस्कृत-विभागाय नवत्यधिकनवशतोत्तरैकसहस्रख्रोस्ताब्दस्य फ़रवरीमासस्यैकादश - -तारिका। अस्मिन्नहनि योधपुरस्थप्राञ्चविद्याप्रतिष्ठानेन संयुज्य संस्कृत-विभागेनायोजिता-यास्सङ्गोष्ट्या उद्घाटन-वेलायां राजस्थान-पत्रिकेति दैनिकपत्रस्य संस्थापक-सम्पादकश्श्रीकर्पूरचन्द-कुलिशस्समीक्षाचक्रवर्ति - -पण्डित -मधुसूदन-ओझा-महोदयमधिकृत्य यद्व्यवृणात्तेन प्रतीपं विपर्यस्तं पात्रमन्वीपायितमिव। अस्यां सङ्गोष्ठ्यां प्रस्तुतेषु पञ्चाशत्सु शोधनिबन्धेषु द्वौ प्रासङ्गिकत्वान्मुद्रयेते-श्री गोपालनारायण-बहुरोपनिबद्धं पण्डितमधुसूदनस्य जीवनोदन्तजातं, डाँ ए.एस. रामनाथन्-परामृष्टं पण्डितमधुसूदनस्य वेदव्याख्यानपद्धतिं प्रत्यवदान्श्चेति। निबन्धद्वयीय - मध्येतृवृन्दस्यौझाविषयिणीं व्यक्तित्वसम्बन्धिनीं वा कृतित्वानुबन्धिनीं वा जिज्ञासां प्रपूरयेदित्याशास्महे। अधिकमधिजिगांसमाना अक्षिलक्ष्यीकुर्वन्तु महामहोपाध्यायपण्डितगिरिधरशर्म्मचतुर्वेदप्रणीतं श्रीमधुसूदनओझाचरिता-मृतम् (राजस्थान-पत्रिका-प्रकाशनं, जयपुरम्) अग्रवालोपाह्वडॉक्टर-वासुदेवशरणोपनिबद्धां ब्रह्मसिद्धान्तभूमिकाञ्च। (काशिहिन्दुविश्वविद्यालयः, वाराणसी, १९३१)

उपरिनिर्दिष्टसङ्गोष्ठीसंस्तुतिमनुसृत्य पण्डितमधुसूदनस्य पञ्चविंशत्य-
-धिकशततमां जयन्तीमुद्दिश्य च राजस्थानसर्वकारस्सप्तचत्वारिंश-
-दधिकद्विसहस्रवैक्रमाब्दे योधपुर-विश्वविद्यालयीयसंस्कृतविभागे तस्य विदुषः प्रतिष्ठायां शोधप्रकोष्ठविशेषमस्थापयद्येनेमां पण्डितमधुसूदनओझा-ग्रन्थमालां प्रकाशयितुं निरणायि। तस्या एव ग्रन्थमालाया विशिष्टपुष्पभूतमिदं प्रकाशनम्। ग्रन्थस्यास्य वर्ण्यविषयस्य भूमिकया गतार्थत्वात्तत्र वाचंयमा अपि पण्डितमधुसूदनस्य वाङ्मयमधिकृत्य समग्रदशा किञ्चिद्विवक्षामः। तत्सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।

सुदढं श्रद्दधाति भारतीयजनता श्रौतवाङ्मयमिति न तिरोहितञ्चक्षुष्मताम्। किन्तु नैतावता तद्वाङ्मयं साम्प्रतिकेभ्यो रोचयेत। अपीदं वाङ्मयमाधुनिकविज्ञाने जाग्रति किञ्चित्प्रत्यग्रं तत्तादृशं ज्ञानं समर्पयति यत्साम्प्रतमपि साम्प्रतमिति प्रश्नः। तत्रोमिति ब्रूमः। दिङ्मात्रम्दाह्रियते।

भौतिकविज्ञानविचक्षणाः दिग्देशकालादिकमाश्रित्य बहुशः प्रतिचिन्वन्ति। तत्रायं वैदिको राद्धान्तः- सौरतत्त्वमव्ययपुरुषस्य ज्ञानशक्तिघनमनोभावेनान्वितं कालं जनयति तदेव क्रियाशक्तिघनप्राणभावेन संयुतं दिशमर्थशक्तिघनवाग्भावेन समेतञ्च देशं जनयति। सूत्रमिदमेकमेव पाश्चात्त्यविज्ञानचिन्तनमामूलमालोडयितुमलम्।

मनोविज्ञानक्षेत्रे (१) अनाविर्भूतसङ्कल्पविकल्पं श्वोवसीयसं मनः, (२) सङ्कल्पविकल्पात्मकमिन्द्रियरूपं मनः, (३) अनुकूलताप्रतिकूल-
-ताबोधकं सर्वेन्द्रियं मनः, (४) श्वासप्रश्वासरक्तसञ्चारादिनिमित्तं सत्त्वमनश्चेति मनश्चतुष्टय्यसमाहितसमस्या समाधातुं प्रभवति। चन्द्रेण योज्यमानं मनः सर्वेन्द्रियम्, इन्द्रियमनस्तु पार्थिवभास्वरसोमसम्बद्धमिति विवेकः। सर्वेन्द्रियं मनः जीवश्चालयति, सत्त्वं त्वीश्वरः।

यथा मनश्चतुष्टयी तथात्मचतुष्टयी- (१) शान्तात्मा, (२) महानात्मा, (३) विज्ञानात्मा, (४) भूतात्मा चेति। (१) शुक्ररूपेण भ्रूण आत्मा शान्तः, (२) आगर्भात्पञ्चमे मासि विष्णिवन्द्रप्रभावतो गत्यागतियुक्त

आत्मा महान्, (३) ज्ञानवाहिनी-कर्मवाहिनी-नाड़ीतन्त्राधिष्ठाता विज्ञानात्मा (४) स्थूलं शरीरं भूतात्मा च। यथासङ्ख्यमिम आत्मानः (१) भ्रूणविज्ञान-(२) शरीरक्रियाविज्ञान-(३) तन्त्रिकाविज्ञान - (४) शरीररचनाविज्ञानानां विषयीभूताश्चिकित्साविज्ञानक्षेत्रे कामप्यपूर्वां दृष्टि विसर्जयन्ति।

चतुष्टयं वेदं सर्वमिति श्रौतसिद्धान्तमनुसृत्य ब्रह्म-क्षत्र-विट्-पौष्ण-भावानां चतुष्टयी व्यष्टि-परिवार-समष्टि-राष्ट्र-चतुष्टय्यां विनियुज्यते। व्यष्टावात्म-बुद्धि-मनः-शरीराणि, परिवारे वृद्ध-युव-स्त्री-बालाः, समष्टौ ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्राः, राष्ट्रे नीतितन्त्र-राजतन्त्र-प्रजातन्त्र-गणतन्त्राणीति समाजशास्त्रं वा राजनीतिशास्त्रं वा वेदानां समग्रदृष्टौ सर्वमेकपदमेव समाधीयते।

प्रत्रेयं वेदविद्या, नवनवाश्चास्याः व्याख्याः। तासु पौरस्त्य-पाश्चात्त्योभय-विधवेदव्याख्यासु पण्डितमधुसूदनकृतव्याख्या न पिष्टमतीतं पिनष्टि। पण्डितमधुसूदनप्रदर्शितेयं व्याख्यापद्धतिर्ब्राह्मणग्रन्थानुमोदितापि वेदविज्ञानानुविद्धं तत्तादृशं कमप्यपूर्वमर्थं स्फ ोटयति योऽस्माकं पन्थानं सर्वदिक्षु प्रशस्येदित्युदात्तभावभाविता वयं प्रस्तुतग्रन्थमालां प्रकाशयितुमुपक्रमामहे। आर्याः मात्सर्यमुत्सार्याविलमपि नः प्रयत्नं करुणादृक्पातेन निर्मलीकुर्युः।

अस्याः ग्रन्थमालायाः प्रकाशनकर्मणि बहून्प्रत्यानृण्यं भजतेऽयं जनः। श्रीकर्पूरचन्दकुलिशस्य सौजन्येनेमे ग्रन्थास्सानुवादाः प्रकाशनार्थमस्यै ग्रन्थमालाया उपलम्भिता इतीदम्प्रथमतया तस्य नाम स्मरामः। अस्या ग्रन्थमालाया संरक्षकस्य योधपुरविश्वविद्यालयस्य कुलपतेरेव सम्भावनागुणिममवैमि यद्वयमत्र रात्रिन्दिवं प्रवर्तामहे। अनुवादक-सम्पादक-टिप्पणीकार-भूमिकाप्रणेत्रादयस्तु साधुवादमर्हन्त्येव, मुद्रण--व्यवस्थान्तर्गतप्राग्रूपसंशोधनादिषु साचिव्यं निर्वहतामपि कृतज्ञतामावहामः। राजस्थानसर्वकारस्यार्थिकानुदानं विना विश्वविद्यालय एतादृशीं ग्रन्थमालां प्रारब्धुमेव नोत्सहेदिति तं साभारञ्चिन्तयामः। अनया ग्रन्थमालया भारतराष्ट्रं स्वकीयं प्रत्नगौरवं ज्ञानविज्ञानोपासनया पुनरपि लभेतिति कामये।-

❑❑❑

छन्द और तन्त्र

[वैदिक छन्दों का तथा तन्त्रान्तर्गत वर्णमाला का महत्त्व इस लेख में अङ्कित है— सम्पादक]

अक्षरों की संख्या का भी गूढ़ अर्थ रहता है। छन्दों का आधार अक्षरों की संख्या ही है। छन्दों में तीन छन्द मुख्य हैं- गायत्री, त्रिष्टुप् और जगती। गायत्री के एक पाद में ८ अक्षर, त्रिष्टुप् के एक पाद में ११ अक्षर तथा जगती के एक पाद में १२ अक्षर रहते हैं। गायत्री पार्थिव छन्द है। पृथ्वी पर अष्ट वसुओं की स्थिति मानी गयी है। गायत्री के भी एक पाद में ८ अक्षर हैं। अन्तरिक्ष का छन्द त्रिष्टुप् है। अन्तरिक्ष में ११ रुद्र हैं अत: आन्तरिक्ष्य छन्द में भी ११ अक्षर रहते हैं। जगती द्युलोक का छन्द है। आदित्य १२ है अत: दिव्य जगती में भी १२ अक्षर रहते हैं। इस प्रकार अक्षरों की संख्या का सम्बन्ध उन पदार्थों की संख्या से रहता है जिन पदार्थों को वे अक्षर बताते हैं। यह शब्द-सृष्टि और अर्थ-सृष्टि के अविभाज्य सम्बन्ध का प्रमाण है।

शास्त्र में गायत्री छन्द को मा, त्रिष्टुप् को प्रमा तथा जगती को प्रतिमा कहा है। मा किसी पदार्थ का उपादान कारण होता है। प्रमा उस उपादान कारण के परिमाण को बताता है तथा प्रतिमा उस ढाँचे को बताता है जिस ढाँचे में उस उपादान कारण को ढालना है। उपादान कारण पार्थिव है, उसका परिमाण आन्तरिक्ष्य है, तथा पदार्थ का ढाँचा या मॉडल द्युलोक से जुड़ा है। इस प्रकार छन्दों के माध्यम से अक्षर पदार्थ का निर्माण कर देते हैं। महाभारत में अक्षरों की संख्या का सम्बन्ध पदार्थों से स्थापित करते हुए बताया गया है कि सात जंगली पशु, सात पालतू पशु, पाँच तृण,

तथा पाँच महाभूत मिल कर २४ बनते हैं इसलिये इन चौबीस को बतलाने वाली गायत्री में भी २४ अक्षर होते हैं। सात जंगली पशु हैं- सिंह, व्याघ्र, वराह, महिष, हाथी, रींछ और वानर। सात पालतु पशु हैं- गौ, बकरी, भेड़, मनुष्य, अश्व, खच्चर, और गधे। पाँच तृण हैं- वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, छायादार वृक्ष। पाँच भूत प्रसिद्ध हैं- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश। इस प्रकार स्थावर, वनस्पति तथा पशु जगत् में समस्त सृष्टि आ जाती है। गायत्री के २४ अक्षर इन २४ पदार्थों को बताते हैं। दूसरी ओर क्योंकि गायत्री पार्थिव छन्द है और पृथ्वी के आठ अवयव हैं, अत: गायत्री के भी एक पाद में ८ अक्षर होते हैं। पृथ्वी के ८ अवयव हैँ- जल, फेन, मिट्टी, रेत, रोड़ी, पत्थर, लोहा और सोना। ब्राह्मण का छन्द गायत्री है अत: उसका उपनयन ८ वर्ष की अवस्था में होता है। क्षत्रिय के छन्द त्रिष्टुप् में ११ अक्षर हैं अत: उसका उपनयन ११ वर्ष की अवस्था में तथा वैश्य के छन्द जगती में १२ अक्षर होते हैं अत: उसका उपनयन १२ वर्ष की अवस्था में होता है। इस प्रकार अक्षरों की संख्या पूरी संस्कृति को प्रभावित करती है।

तन्त्र शास्त्र में वर्ण माला के सभी वर्णों की स्थिति शरीर के भिन्न भिन्न चक्रों में बतायी गयी है। अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार अ,इ,उ,ऋ,लृ,ए और ओ स्वर चेतना की सौर-रश्मियों से आते हैं जबकि आ,ई,ऊ,ॠ, ॡ, ऐ और औ स्वर चेतना की चान्द्र-रश्मियों से आते हैं। सौर स्वर पिङ्गला में सञ्चरण करते हैं, चान्द्र स्वर इड़ा में सञ्चरण करते हैं। पिङ्गला दाहिनी ओर है, इड़ा बाँयी ओर। मध्य की सुषुम्णा में परावाक् रहती है। अभिनवगुप्त के अनुसार अ शिव का तथा इ शक्ति का वाचक है। अ जब आनन्द को बताता है तो आ बन जाता है। यही अकार जब सृष्टि की रचना करना चाहता है तो इ बन जाता है और सृष्टि पर शासन करते समय ई बन जाता है।

अ अहङ्कार ह तो आ अहङ्कार में लीन होने का सूचक है। इ इच्छा शक्ति है और ई उस शक्ति के विश्राम की सूचक है। उ विचार शक्ति

है तथा ऊ चेतना की न्यूनता का सूचक है। ऋ ॠ प्रकाश रूप तो लृ ॡ बीजाक्षर हैं। ए इच्छा, विचार और क्रिया के त्रिकाण का बताता है। ऐ इच्छा तथा आनन्द का विस्तार है। ओ सृष्टि की अभिव्यक्ति है और इच्छा, विचार और क्रिया का त्रिशूल है। अं सृष्टि की प्रतिभा का उन्मेष है। अः शक्ति तथा आनन्द का समन्वय है।

इन स्वरों की मात्राओं के साथ सारे व्यञ्जनों की बारहखड़ी बनती। कुछ वर्षों पूर्व इस बारहखड़ी का अभ्यास सभी बालकों को कराया जाता था तो उस बारहखड़ी के पढ़ने में बच्चों का सहज ही मन्त्र –पाठ हो जाता था । अब बारहखड़ी की परम्परा प्रायः लुप्त सी हो गयी है।

तन्त्र में पचास वर्णों का विभिन्न चक्रों में स्थान भी बताया गया है। सहस्रारचक्र में सभी वर्ण अव्यक्तरूप में रहते हैं। आज्ञाचक्र में ह और क्ष ये दो वर्ण हैं, विशुद्धिचक्र में अ, आ,इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ लृ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः– ये सोलह वर्ण है, अनाहत चक्र में क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ–ये बारह वर्ण हैं, मणिपूर चक्र में ड, ढ,ण, त, थ, द, ध, न, प, फ– ये दस वर्ण हैं, स्वाधिष्ठान चक्र में ब,भ, म, य, र, ल– ये छह वर्ण है तथा मूलाधार में व, श, ष, स ये चार वर्ण हैं। इस प्रकार हमारा पूरा शरीर अक्षरों से ओत प्रोत है। किसी चक्र में किस वर्ण का स्थान क्यों माना गया– यह साधना द्वारा अनुभव से ही जाना जा सकता है; इसके पीछे कोई तर्क देना सम्भव नहीं है।

❐❐❐

वेदों में अथर्ववेद का स्थान

[एक विवादास्पद विषय पर विशुद्ध वैदिक दृष्टि से इस लेख में प्रकाश डाला गया है। मूल स्रोतों के प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि अथर्ववेद भी शेष वेदों के समान वैदिक वाङ्मय का अविभाज्य अंग है— सम्पादक]

स्वयं वेद में—(**तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋ चः सामानि जज्ञिरे, छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।-ऋग्वेद, १०.९०.९**), ब्राह्मण ग्रन्थों में— (**सोऽग्नेरेवर्चोऽसृजत वायोर्यजूंषि, आदित्यात्सामानि- शाङ्खायनब्राह्मण, ६.१०**), और मनुस्मृति में— (**अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्।। मनुस्मृति, १.२३**) भी ऋक्, यजुष् और साम का उल्लेख है किन्तु अथर्व का नहीं। इसी आधार पर 'त्रयी' शब्द भी प्रचलित हैं—(**यमृषयस्त्रयीविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि- तैत्तिरीय ब्राह्मण, १.२.१.६**)।अतः यह सन्देह होता है कि क्या अथर्ववेद वेद नहीं है अथवा अथर्ववेद का समावेश वेदों में बाद में हुआ; प्रारम्भ में तीन ही वेद थे। विशेषकर पश्चिम के विद्वानों ने ऐसा मत प्रकट किया है। उन्हीं विद्वानों का अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों ने भी ऐसा कहा है।

एक परम्परा

परम्परा इस मत से सहमत नहीं है। वह अथर्ववेद को भी शेष तीनों वेदों के समकक्ष ही मानती है। ऋक्, यजुष् और साम के सम्बन्ध में परम्परा का यह कहना है कि ऋक् से पद्य, यजुष् से गद्य और साम से गान का बोध होता है। अतः इन तीन के कहने से अथर्ववेद का भी समावेश हो जाता है क्योंकि रचना के ये तीन ही प्रकार सम्भव हैं। वस्तुतः यदि ब्राह्मण ग्रन्थ—**(अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः- शतपथब्राह्मण, ११.५.८.३)** और स्मृति की भाषा पर ध्यान दें तो यह समाधान बहुत सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता क्योंकि वहाँ स्पष्ट रूप से अग्नि, वायु और आदित्य के क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद नामक तीन वेदों के उत्पन्न होने का उल्लेख है न कि तीन प्रकार की पद्य, गद्य और गान के उत्पन्न होने का। 'त्रयी विद्या' शब्द भी तीन रचना के प्रकारों के अर्थ में कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ लगता—**(सैषा त्रय्येव विद्या तपति- शतपथब्राह्मण, १.५.१२.२)**। ऐसी स्थिति में पण्डित मधुसूदन ओझा ने त्रयी में अथर्ववेद का समावेश न करके पृथक् रूप से उसके परिगणन का एक दूसरा ही शास्त्र-सम्मत हेतु दिया है। इस विषय का विस्तार ओझा जी के शिष्य स्वामी सरजनदास जी ने श्री कर्पूरचन्द्र कुलिश द्वारा सम्पादित शब्द वेद की भूमिका में किया हैं—**(शब्दवेद (सम्पादक श्रीकर्पूरचन्द्र कुलिश) स्वामी सुरजनदास जी की भूमिका पृ. १७-२०)**। विद्वानों के विचारार्थ यहाँ उसे प्रमाण-पुरस्सर प्रस्तुत किया जाता है।

वेद चार हैं- यह बात उपनिषदों में बारम्बार कही गयी है— **(ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणञ्चेति-छान्दोग्योपनिषद् ७१.२, अपि च-मुण्डकोपनिषद् १.१.५, बृहदारण्यकोपनिषद्, १.१.२ तथा ४.४.१० यहाँ सर्वत्र चार वेदों में अथर्ववेद का नामतः उल्लेख पृथक् स है, उसका त्रयी में समावेश कहीं नहीं है)**। फिर प्रश्न होता है

कि त्रयी में अथर्ववेद का उल्लेख क्यों नहीं है। जहाँ तक होता के द्वारा ऋक् का, अध्वर्यु के द्वारा यजुष् का तथा उद्गाता के द्वारा साम के प्रयोग का प्रश्न है, ऐतरेय ब्राह्मण में ब्रह्मा की क्रिया का भी सम्पादन त्रयी द्वारा ही कर देने की बात कह दी गई है—**(अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते इति त्रय्या विद्येति ब्रूयात्-ऐतरेयब्राह्मण, ५.३३)**। इससे ऐसा लगता है कि यज्ञ में तो अथर्ववेद की आवश्यकता ही नहीं है किन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है।

गोपथ का मत

गोपथ ब्राह्मण में स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्मा का कार्य अथर्ववेद का ज्ञाता ही करता है—**(अथर्वाङ्गिरोविदमेव ब्रह्माणम्-गोपथब्राह्मण, २.२४)**। प्रश्न होता है कि ऐसी स्थिति में त्रयी को पृथक् बताकर अथर्व को पृथक् बताने का क्या प्रयोजन है ?

समाधान यह है कि यज्ञ के दो पक्ष हैं-वाणी और मन—**(अयं वै यज्ञो योऽयं पवते। तस्य वाक् च मनश्च वर्तन्यौ। वाचा च हि मनसा च यज्ञोऽवर्तत।- ऐतरेयब्राह्मण, ५.३३)**। त्रयी के द्वारा यज्ञ के वाणी का पक्ष संस्कृत किया जाता है किन्तु ब्रह्मा मन के द्वारा यज्ञ का संस्कार करता है—**(तद् वाचा त्रय्या विद्ययैकं पक्षं संस्कुर्वन्ति, मनसैव ब्रह्मा संस्करोति-तदेव, ५.३३। अपिच- त्रिभिवेदैर्यज्ञस्यान्यतरः पक्षः संस्क्रियते मनसैव ब्रह्मा यज्ञस्यान्तरं पक्षं संस्करोति -गोपथब्राह्मण, पूर्वार्चिक, २.२४)**। अभिप्राय यह है कि वाणी के द्वारा यज्ञ का संस्कार करने वाले ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद एक कोटि में आते हैं और मन के द्वारा यज्ञ का संस्कार करने वाला अथर्ववेद दूसरी कोटि में आता है। इसलिये त्रयी से अथर्ववेद की गणना पृथक् रूप में की गयी है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि अथर्ववेद परवर्ती है।

त्रयी आग्नेय है-

इसी तथ्य को दूसरी तरह से भी समझना चाहिए। वाणी का सम्बन्ध अग्नि से है अतः वाणी से जुड़ी त्रयी अग्नि से जुड़ी है—**(अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्-ऐतरेयब्राह्मण, २.४)**। यद्यपि अग्नि से ऋग्वेद का ही सम्बन्ध माना गया है और त्रयी के शेष दो वेदों का सम्बन्ध वायु और आदित्य से माना गया हैं तथापि यास्काचार्य ने निरुक्त में वायु और आदित्य को भी अग्नि का ही रूप माना है—**(अप्येते उत्तरे ज्योतिषी अग्नी उच्येते-निरुक्त, ७.४)**। अतः अग्नि, वायु और आदित्य से क्रमशः उत्पन्न होने वाले ऋक्, यजुष् और साम तीनों ही आग्नेय कहे जा सकते हैं।

अग्नि का वाक् से सम्बन्ध होने के कारण वाक् का संस्कार करने वाली त्रयी आगय की कोटि में आती है। यह बात शतपथ ब्राह्मण में स्पष्टतः कह भी दी गई है—**(स वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो यजूंषि सामानि, तेनाग्निस्त्रेधा विहितः ऋचो यजूंषि सामानि-शतपथब्राह्मण, १०.३.५.२)।**

दूसरी ओर मन का संस्कार करने वाला ब्रह्मा अथववेद का उपयोग करता है। अथर्व का देवता चन्द्रमा है—**(अथर्वणाञ्चन्द्रमा दैवतम्-गोपथब्राह्मण, १.२९)** और जिस प्रकार अग्नि वाक् बनकर मुख में प्रविष्ट हो गयी, उसी प्रकार चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ—**(चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्-ऐतरेयोपनिषद् २.४)**। इसलिए अथर्व, जिसका देवता चन्द्रमा है, के द्वारा मन का संस्कार किया जाना युक्तियुक्त ही है। जहाँ त्रयी आग्नेय है वहाँ अथर्ववेद का सोमात्मक होना स्वाभाविक है—**(सोमात्मको ह्ययं वेदः-गोपथब्राह्मण, पूर्वार्चिक २.९)**। क्योंकि सृष्टि के मूल में दो ही तत्त्व हैं-अग्नि और सोम—

(अग्निषोत्मकं जगत्-बृहज्जाबालोपनिषद्, २.४)। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि त्रयी और अथर्ववेद का पृथक्-पृथक् परिगणन यज्ञविद्या के स्वरूप पर निर्भर है, न कि अथर्ववेद के परवर्ती होने पर।

अथर्ववेद के परवर्ती होने के लिए एक अन्य हेतु यह दिया जाता है कि इसकी विषयवस्तु त्रयी की विषयवस्तु से भिन्न है। त्रयी के तीनों वेद आग्नेय हैं और अथर्ववेद सौम्य है इसलिए दोनों की विषयवस्तु में भेद होना स्वाभाविक है—**(यच्छुष्कं तदाग्नेयम। यदार्द्रं तत्सौम्यम्-शतपथब्राह्मण, १.६.३.२३)**। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है—**(सोमोऽन्नमग्निरन्नादः-काठकसङ्कलन, १४०)**। अग्नि उष्ण है, सोम शीत है। ऊर्जा के लिए अग्नि आवश्यक है किन्तु अग्नि का आधिक्य ताप उत्पन्न करता है। इस ताप को सोम ही शान्त करता है। शान्त करने वाले इस तत्व को कभी सोम कहा जाता है,कभी रस और कभी आप—**(तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यः यान् मन्त्रानपश्यन्स आथर्वणो वेदोऽभवत्-गोपथब्राह्मण, १.१.५, अपि च-रस इव खलु वा अन्नम्-तैत्तिरीयसंहिता, २.१.७.५, आपः सोमः-शतपथ, ७.११.२२)**। सोम केवल अग्नि के ताप को शान्त ही नहीं करता अपितु अग्नि का ईंधन बनकर अग्नि के अस्तित्व का आधार भी बनता है, यही अग्नि के अन्नाद तथा सोम के अन्न होने का तात्पर्य्य है।

ब्रह्मवेद-

यह भी विचारणीय है कि अथर्ववेद में केवल काम्य कर्मों का ही प्रतिपादन नहीं है, अपितु ब्रह्म-विद्या भी है। काल सूक्त और उच्छिष्ट सूक्त—**(अथर्ववेद, १९.५३ तथा १९.५४ तथा ११.७)** जैसे सूक्तों से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अतः अथर्ववेद में जिस प्रकार लौकिक अभ्युदय का उपाय बताया गया है—**(येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्-**

गोपथब्राह्मण १.१.५ अपि च- औषधो हि सोमो राजा- ऐतरेयब्राह्मण, ३.४०), उसी प्रकार नि:श्रेयस का उपाय भी वर्णित है। अत: इसकी ब्रह्मवेद संज्ञा अन्वर्थक है इस अर्थ में भी है कि इसमें ब्रह्मविद्या वर्णित है—**(ब्रह्मवेद एव सर्वम्-गोपथब्राह्मण, पूर्वार्चिक, ५.१५)**। ब्रह्मवेद के रूप में अथर्ववेद का वर्णन हमने अन्यत्र विस्तार से किया है— **(Holistic Approach of the Vedas, पृ. २७६.२७७)** जहाँ अथर्ववेद का रस रूप में वर्णन करते हुए 'रसो वै स:' के आधार पर यह बताया गया है कि अथर्ववेद का सोम औषधि है—**(अपां सोममृता अभूम्- ऋग्वेद, ८.४८.३ अपि च- तदपामाप्त्वमाप्नोति ह वा सर्वान्कामान् यान्कामयते-गोपथब्राह्मण, १.१.२)** जो काम्य प्रयोग का मूल है, तो रस ब्रह्म है जो नि:श्रेयस का मूल है—**(रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन: अथर्ववेद, १०.८.८४, अपिच-तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्यो:-तदेव, १०.८.४४)**। इस प्रकार अथर्ववेद अभ्युदय तथा नि:श्रेयस उभयरूप धर्म का प्रतिपादक है।

❐❐❐

हमारा पर्यावरण

[पर्यावरण के बहुचर्चित विषय पर वैदिक दृष्टि से प्रकाश इस लेख में डाला गया है— सम्पादक]

आधुनिक विज्ञान के विकास ने हमारी आँखों में चकाचौंध पैदा कर दी है, किन्तु उसी विज्ञान के विकास ने हमें विनाश के उस कगार पर भी लाकर खड़ा कर दिया जहाँ हमें अपनी आश्रयदात्री पृथ्वी का अस्तित्व ही संकटमय दृष्टिगोचर हो रहा है। पर्यावरण की चिन्ता से प्रेरित होकर अनेक राजनेता और वैज्ञानिक पृथ्वी की सुरक्षा के संबंध में नाना उपायों पर विचार कर रहे हैं। यह एक शुभ लक्षण है। किन्तु आधुनिक विज्ञान के पीछे जो जीवन दृष्टि है और उस जीवन दृष्टि ने जो जीवन शैली हमें दी है, जब तक हम उसमें आधारभूत परिवर्तन करने के लिए उद्यत नहीं होंगे, पर्यावरण की रक्षा का हमारा सङ्कल्प फलीभूत नहीं होगा।

वेदों का देव-विज्ञान

सहज ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि आधुनिक विज्ञान द्वारा दी गई जीवन शैली का विकल्प क्या है? इस विकल्प की खोज हमें अनायास वेद-विज्ञान के द्वार पर लाकर खड़ा कर देती है। पारस्परिक भेद बतलाने के लिए हम आधुनिक विज्ञान को भूत-विज्ञान तथा वेद-विज्ञान को देव विज्ञान कह सकते हैं। देव शब्द सुनकर हममें से अधिकतर लोगों का ध्यान किसी ऐसी चीज पर जाता है जो वास्तविक नहीं होकर कल्पना पर टिकी है और इसलिए हम इस शब्द से

पराङ्मुख हो जाते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि वेद के क्षेत्र में ऐसा कुछ भी नहीं है जो काल्पनिक या अन्धविश्वास पर टिका हो। देव एक प्रकार की प्राणशक्ति है। इस प्राण के अनेक भेद हैं, किन्तु इतना स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि विश्व में ऐसा कुछ भी नहों है जो निष्प्राण हो। प्राण का आधार भूत ही है, और भूत की सत्ता प्राण के बिना संभव नहीं है। इस प्रकार प्राण और भूत दोनों एक दूसरे से अविनाभावपूर्वक जुड़े हैं। भूत मर्त्य है, देव अमृत है।

तीन लोक-तीन देव

वेद विज्ञान की दृष्टि से कोई पदार्थ जड नहीं है, क्योंकि प्राण सब में है। वेद-विज्ञान की दृष्टि से ही भूमि को अपनी माँ और अपने को भूमि का पुत्र कहना सार्थक हो सकता है, अन्यथा पृथ्वी को जड मानें तो आलङ्कारिकरूप से पृथ्वी को भले ही माँ कहते रहें, किन्तु वास्तविक अर्थ में पृथ्वी को माँ कहना हास्यापद ही होगा। वेद-विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी वस्तुतः हमारी माँ है, क्योंकि पृथ्वी प्राणयुक्त है। पृथ्वी के प्राण का नाम अग्नि है। इसी प्रकार द्यु-लोक के प्राण का नाम आदित्य तथा अन्तरिक्ष लोक के प्राण का नाम वायु है। यह अग्नि, वायु और आदित्य ही तीन देवता हैं जिनमें अग्नि के आठ रूप, वायु के ग्यारह तथा आदित्य के बारह रूप हैं। इन इकतीस में दो अश्विनी कुमार-नासत्य एवं दस्र-सन्धि के देवता हैं, उनसे मिलकर तैंतीस देवता बन जाते हैं। ये ३३ देवता जिन तीन अग्नि, वायु और आदित्य के भेद हैं, वे तीनों भी वस्तुतः एक ही अग्नि के तीन रूप हैं। अग्नि का घन रूप अग्नि है, तरल रूप वायु है तथा विरल रूप आदित्य है। इस प्रकार वैदिक दृष्टि एक में अनेक और अनेक में एक को देखती है। अनेक में एक को देखना ज्ञान है तथा एक में अनेक को देखना विज्ञान है।

पृथ्वी का देवता- अग्नि

हम यहाँ सब देवताओं के विस्तार में नहीं जा सकते, किन्तु अग्नि पर थोड़ा सा विचार इसलिए करेंगे कि अग्नि पृथ्वी का देवता है और हमें मुख्यत: पृथ्वी पर विचार करना है। सभी देवताओं के तीन रूप हैं। अग्नि के भी तीन रूप हैं- आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। अग्नि के जिस रूप से वर्तमान वैज्ञानिक परिचित हैं वह अग्नि का आधिभौतिक रूप है जिसे हम अंग्रेजी में ''फायर'' शब्द से कह सकते हैं। अग्नि का जो विरल रूप सूर्य में आदित्य प्राण के रूप में है वह अग्नि का अधिदैविक रूप है। जठराग्नि रूप में वैश्वानराग्नि आध्यात्मिक है। ध्यान रहे वेद में अध्यात्म शब्द का प्रयोग शरीर से सम्बद्ध पदार्थ के लिए होता है। वेद में अध्यात्म का वह अर्थ नहों है जो अंग्रेजी के ''स्पिरिचुअल'' शब्द का है। ''स्पिरिचुअल'' शब्द उस चिन्तन परम्परा का है जिसमें आत्मा और शरीर को दो भिन्न पदार्थ माना जाता है। वेद विज्ञान की दृष्टि में तो सब कुछ ही ब्रह्म है, इसलिए वहाँ अध्यात्म का वह अर्थ नहीं है जो अंग्रेजी के स्पिरिचुअल शब्द का है।

अग्नि के दो रूप

पृथ्वी का देवता अग्नि है- अग्नि के दो रूप हैं- एक पिण्ड में ओतप्रोत रूप है, दूसरा रूप वह है जो पिण्ड के चारों और पिण्ड की महिमा के रूप में रहता है। पिण्ड में रहने वाला रूप चिति तथा पिण्ड के महिमा मण्डल में व्याप्त रूप चितिनिधेय कहलाता है। अग्नि का जो चितिनिधेय रूप पिण्ड के महिमा मण्डल में फैला है वह भू-पिण्ड तक सीमित नहीं है, बल्कि सूर्य के बाद तक फैला है। भू-पिण्ड के इस महिमा मण्डल को ही प्रथित अर्थात् विस्तीर्ण होने के कारण पृथ्वी कहा जाता है। इस प्रकार भूमि और पृथ्वी पर्यायवाची नहीं है। पृथ्वी महिमा

मण्डल है जो बहुत विस्तीर्ण है, भूमि एक पिण्ड है, जो उस महिमा मण्डल की अपेक्षा बहुत छोटा है। भू-पिण्ड का अग्नि मर्त्य है। पृथ्वी का अगि अमृत है। आधुनिक भाषा में कहें तो पृथ्वी भूमि का पर्यावरण है। प्राचीन भाषा में कहें तो भूमि भूत है, पृथ्वी देवता है। इन दोनों का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। महिमा मण्डल पिण्ड के बिना नहीं टिक सकता, न पिण्ड की सत्ता महिमा मण्डल के बिना है। इसलिए विचारकों की यह चिन्ता उचित है कि पर्यावरण के क्षत-विक्षत हो जाने पर भूमि का क्या होगा?

आठ वसु

भूमि में जो अग्नि घनरूप में है वह वसु कहलाती है। इसके आठ भाग हैं- ध्रुव, धरुण, सोम, आप, वायु, अग्नि, प्रत्यूष तथा प्रभास। जिस प्रकार पृथ्वी का देव वसु है उसी प्रकार द्युलोक का देव इन्द्र है। पृथ्वी की अग्नि सूर्य की ओर जाती है तथा सूर्य का इन्द्र पृथ्वी की ओर आता है। इन दोनों के मिलने से प्रकृति में एक यज्ञ हो रहा है जिसे ऐन्द्राग्नि यज्ञ कहा जाता है। जब इन्द्र वसु-अग्नि से मिलता है तब उसका नाम वासव हो जाता है। पृथ्वी का जो रूप आदित्य प्राण से युक्त हो जाता है वह अदिति कहलाता है और जो आदित्य प्राण से वंचित रह जाता है वह दिति कहलाता है। अदिति दृश्य है, दिति अदृश्य है।

तीन त्रिलोकी आर पृथ्वी

पृथ्वी सब भूतों का रस कही जाती है। आकाश का गुण वायु में आ जाता है, आकाश और वायु का गुण तेज में आ जाता है, आकाश, वायु, तेज का गुण जल में आ जाता है और आकाश, वायु, तेज तथा जल चारों का गुण पृथ्वी में आ जाता है। इसलिए पृथ्वी को भूतों का रस कहा जाता है। जिस भू-पिण्ड पर हम बैठे हैं यह भू-पिण्ड विश्व में एक पूरी

व्यवस्था से जुड़ा है। हमारे विश्व के पाँच पिण्ड मुख्य हैं। इनमें तीन पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य तो हमें दिख रहे हैं। इसके अतिरिक्त दो पिण्ड और हैं- परमेष्ठी और स्वयम्भू। इन पाँच पिण्डों की तीन त्रिलोकी बन जाती है। एक हमारी त्रिलोकी का भू भूमि है, भुवः अन्तरिक्ष में चन्द्रमा है, और स्वः द्यौः में सूर्य है। यह रोदसी त्रिलोकी कहलाती है। इसके ऊपर क्रन्दसी त्रिलोकी है जिसकी पृथ्वी स्वः लोक, अन्तरिक्षः महः लोक और द्यौः जनः लोक नाम का लोक है जिसे परमेष्ठी भी कहा जाता है। इसके ऊपर एक और संयती नाम की त्रिलोकी है, जिसकी भूः परमेष्ठी, भुवः तपः लोक और स्वः सत्यलोक अथवा स्वयम्भू है। इस प्रकार तोन-तीन त्रिलोकी के तीन त्रिलोक हैं। वर्तमान विज्ञान केवल इनमें से एक ही त्रिलोकी की चर्चा करता है। इन तीन त्रिलोकियों में भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्यम् नामक सात लोक हैं तथा पृथ्वी, चन्द्रमा, सूर्य, परमेष्ठी और स्वयम्भू- ये पाँच पुण्डीर हैं। इस प्रकार हमारी पृथ्वी एक विस्तृत विश्व व्यवस्था का अङ्ग है।

विश्व व्यवस्था का आधार यज्ञ

विश्व व्यवस्था का मूल यज्ञ है। यज्ञ का अर्थ है आदान-प्रदान। इस आदान-प्रदान से उत्पन्न होने वाले अपूर्व भाव की उत्पत्ति को यज्ञ कहा जाता है। अग्नि में सोम की आहुति दी जाती है, यह प्रदान है, और अग्नि सोम को स्वीकार करता है, यह आदान है। इसे यों भी कहा जा सकता है कि अग्नि में सोम की आहुति से जो फल प्राप्त होता है, वह आदान है। सूर्य में जो सौर अग्नि पृथ्वी पर आ रही है, पृथ्वी वनस्पतियों में उस अग्नि को ग्रहण कर रही है। इस प्रकार सूर्य में भी परमेष्ठी से सोम आ रहा है जिस सोम को भोजन बनाकर सूर्य की अग्नि निरन्तर प्रज्वलित है। अग्नि में सोम की आहुति का यज्ञ सर्वत्र चल रहा है। इसलिए पूरा

विश्व एक यज्ञ है। प्रकृति ने इस यज्ञ का स्वरूप ऐसा बनाया है कि उस यज्ञ में यदि किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर दिया जाये तो विश्व का स्वरूप अस्त-व्यस्त होने लगता है। प्रत्येक पदार्थ के दो पक्ष हैं- एक अग्नि रूप और दूसरा सोम रूप। जो दूसरे पदार्थ को आत्मसात् कर लता है, वह हमारी अग्नि रूप है, जो पदार्थ आत्मसात् किया जाता है वह सोम है। इस आदान-प्रदान की व्यवस्था प्रकृति ने जितनी उत्तम की है उससे अधिक अच्छी व्यवस्था मनुष्य नहीं कर सकता है। मनुष्य में अपनी बुद्धि के प्रयोग द्वारा उस व्यवस्था में जहाँ-जहाँ अपनी समझ में अच्छाई के लिए परिवर्तन किया वहाँ-वहाँ प्रकृति ने उसे दण्डित किया। एक वाक्य में पर्यावरण-प्रदूषण का कारण है- प्रकृति द्वारा आदान-प्रदान रूप में चलाए गए यज्ञ में किसी भी प्रकार का परिवर्तन करना। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति है कि वह लेना चाहता है, देना नहीं चाहता। प्रकृति का नियम है कि आदान और प्रदान का सन्तुलन रहना चाहिए। जब हम प्रकृति से कुछ लेते हैं तो देना भी चाहिए। जितना आवश्यक जीवन के लिए सङ्ग्रह है उतना ही आवश्यक त्याग भी है। यदि हम भोजन हो करते रहें और मल-विसर्जन नहीं करें तो हमारे शरीर की स्थिति दयनीय हो जाती है। त्याग के बिना सङ्ग्रह का ऐसा ही दुष्परिणाम होता है। वेद में इसी त्याग को तप शब्द से कहा गया है। तप का अर्थ है कि हम कुछ छोड़ कर रिक्त स्थान बनाएं ताकि नवीन का ग्रहण हो सके।

पर्यावरण और अपरिग्रह

हम प्रायः यह समझते हैं कि देने में हानि होगी। वेद हमें ज्ञान देता है कि परिमित पदार्थ में से कुछ निकाल लिया जाए तो परिमित पदार्थ कम हो जाता है, किन्तु यदि पूर्ण में से पूर्ण को भी निकाल लिया जाए तो पूर्ण में कोई न्यूनता नहीं आती, पूर्ण ही शेष रहता है- **पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।**

वेद हमें बतलाता है कि हम अमृत के पुत्र हैं, ब्रह्मस्वरूप हैं, बृंहणशील हैं। इसलिए अनावश्यक सङ्ग्रह हमारे लिये आवश्यक नहीं है। अनावश्यक सङ्ग्रह परिग्रह है और परिग्रह इस अज्ञान से उत्पन्न होता है कि हम मरणधर्मा हैं, यदि हमारे पास अमुक पदार्थ नहीं होंगे तो हम मर जायेंगे। वस्तुस्थिति यह है कि हम अमृतरूप हैं, हमें अपना बचाव करने के लिए परिग्रह की आवश्यकता नहीं है। जहाँ यह ज्ञान नहीं है, वहाँ पर परिग्रह होता है और इसलिए परिग्रह को मूर्च्छा कहा गया है– **मूर्च्छा परिग्रहः।**

वायु तथा आदित्य का महत्त्व

भूमि से अधिक महत्त्वपूर्ण भूमि का वातावरण है। भूमि के वातावरण को वेद में पृथ्वी कहा है। यह पृथ्वी भूमि का महिमामण्डल है। इस महिमामण्डल में भूमि ही नहीं, अन्तरिक्ष और द्यौः भी शामिल है। पृथ्वी का देवता अग्नि है, अन्तरिक्ष का वायु और द्यौः का देवता आदित्य है। इनमें अग्नि में रस हैं किन्तु वायु रसतर है और आदित्य रसतम है। इसलिए जितनी हानि भूमि को क्षति पहुँचाने से होती है उससे अधिक हानि वायु को क्षति पहुँचाने से होती है। ओजोन की परत में छिद्र होने से सूर्य की विषैली किरणों का जो संकट उत्पन्न हुआ है वह भूमि को क्षति पहुँचने से नहीं, बल्कि वायुमण्डल को क्षति पहुँचने से हुआ है। जो अन्न हम लेते हैं उसमें अग्नि, वायु और आदित्य तीनों का योगदान रहता है। अग्नि उसमें दधि, अन्तरिक्ष उसमें घृत और आदित्य मधु प्रदान करता है। कृत्रिम साधनों से जब हम फसल को समय से पहले पका देते हैं या वनस्पति का आकार प्राकृतिक आकार से बड़ा बना देते हैं तो उस अन्न में पार्थिव तत्त्व अधिक हो जाता है, वायु और आदित्य का तत्त्व पूरा नहीं हो पाता है। परिणामतः उसमें घृत तत्त्व तथा मधु तत्त्व कम रह जाता है। घृत

तत्त्व के कम होने से उसमें स्निग्धता नहीं रहती और मधु तत्त्व के कम होने से उसमें मिठास नहीं आ पाती है। यही कारण है कि कृत्रिम खाद्य आदि देकर तैयार की गयी फसल में स्निग्धता एवं मधुरता नहीं रहती है और यदि हमारे अन्न में स्निग्धता और मधुरता नहीं होगी तो हमारे व्यवहार में स्निग्धता और मधुरता कहां से आयेगी? परिणाम यह हो रहा है कि स्निग्ध और मधुर अन्न के अभाव में हमारे व्यवहार में भी रुक्षता आ रही है। आतंकवाद जड़ें जमा रहा है। अन्न हो हमारा मन बनाता है। यह वेद विज्ञान की एक सूक्ष्म खोज है जिसे अनपढ़ भारतीय भी ''**जैसा अन्न वैसा मन**'' कह कर प्रकट कर देता है। किन्तु शायद यह बात बड़े से बड़े भौतिक वैज्ञानिक की पकड़ से बाहर इसलिए रह जाती है कि वह भूत को ही अपना विषय बनाता है, मन को नहीं। वह भूत और मन के बीच के गहरे संबंध की उपेक्षा करता है। वेदविज्ञान की स्थिति यह है कि उसका विवेचन देवताओं पर केन्द्रित है। देवता प्राणरूप हैं और यह प्राण मन तथा वाक् के पात्र में प्रतिष्ठित है। वाक् शब्द भूत का वाचक है और मन चेतना को बतलाता है। वेदविज्ञान के अनुसार जड और चेतन में मौलिक भेद नहीं है, केवल तारतम्य का भेद है। जहाँ इन्द्रियों का विकास नहीं हुआ उसे हम जड कहते हैं। वस्तुतः स्थिति यह है कि सभी कुछ चेतन है। भूतविज्ञान की पकड़ से यह चेतन बाहर रह जाता है इसलिए उसका भूत-परक विश्लेषण भी अधूरा ही माना जाएगा।

यज्ञ-वेदि पृथ्वी

वेद विज्ञान में पृथ्वी को वेदि कहा गया है। वेदि पर ही वेद प्रतिष्ठित हैं। पृथ्वी की वेदि पर जो वेद प्रतिष्ठित हैं, उन्हें गायत्री-मात्रिक वेद कहा जाता है। पृथ्वी के साथ छन्द, वेद तथा वेदि शब्द का प्रयोग यह बतला रहा है कि यज्ञ की अवधारणा पृथ्वी से गहरे रूप से जुड़ी है। एक

यज्ञ दाम्पत्य यज्ञ भी है जिससे प्रजा उत्पन्न होती है। यज्ञ की परिभाषा में द्यौः पिता है और पृथ्वी माता है। द्यौः की सौर अग्नि और पृथ्वी की पार्थिव अग्नि का सम्पर्क ही वह यज्ञ है जिस पर समस्त विश्व टिका है।

हम और पर्यावरण

वेद विज्ञान में मनुष्य को जिन चीजों की आवश्यकता है उन्हें छः शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है- अन्न, अन्नाद, प्रजा, पशु, कीर्ति और ब्रह्म-वर्चस्। इनमें अन्न और अन्नाद का संबंध भू-पिण्ड और पार्थिव-मण्डल से है, पशु और प्रजा का संबंध चन्द्र-पिण्ड और चन्द्र - मण्डल से है, ब्रह्म-वर्चस् और कीर्ति का संबंध सूर्य-पिण्ड और सौर-मण्डल से है। इस प्रकार मनुष्य की सभी आकांक्षाएँ पर्यावरण से जुड़ी हैं और पर्यावरण का दूषित होना मनुष्य जीवन का दूषित हो जाना है।

अथर्ववेद का पृथ्वी-सूक्त

अथर्ववेद में जो लम्बे सूक्त हैं, उनमें से एक पृथ्वी-सूक्त है जिसमें ६३ मन्त्र दिये गए हैं। पर्यावरण की चिन्ता करने वालों को इस सूक्त को राष्ट्रगीत की तरह विश्व-गीत घोषित कर देना चाहिए। इस सूक्त में पूरी पृथ्वी की चिन्ता है, किसी सम्प्रदाय-विशेष, जाति-विशेष या देव-विशेष की नहीं। इस सूक्त की प्रथम पंक्ति में ही पृथ्वी को धारण करने वाले आठ तत्त्व बताये गये हैं-

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।

इन आठ तत्त्वों में तप, ब्रह्म और यज्ञ की चर्चा हमने ऊपर की है। इस पंक्ति में महत्त्वपूर्ण बात यह कही गई कि पृथ्वी तेजस्विता से सुरक्षित रहती है। यदि पर्यावरण को बचाना हो तो जीवन को विलासिता से बचाना होगा। विकास के नाम पर हम प्रकृति का शोषण विलास के लिए अधिक

करते हैं, आवश्यकता की पूर्ति के लिए कम। सुविधा जुटाने के नाम पर आधुनिक विज्ञान मनुष्य को विलासिता का दास बनाता है, जबकि वेदविज्ञान मनुष्य को ऋतु के अनुकूल जीवन जीना सिखा कर इतना समर्थ बनाने का मार्ग दिखाता है कि उसे विलासिता के कृत्रिम साधनों की आवश्यकता ही नहीं रहती है। अथर्ववेद के पृथ्वी-सूक्त में पृथ्वी के सस्य-श्यामला होने का अत्यन्त गौरवपूर्ण भाषा में उल्लेख है। वैदिक ऋषि की पृथ्वी-सूक्त में पृथ्वी के वातावरण के लिए जो जागरूकता है उसका सङ्केत देने के लिए यहां एक दो मन्त्र उद्धृत हैं- ऋषि कहता है- हे भूमि ! तुम्हारे जो कन्द मूल आदि हम खोदते हैं वे शीघ्र ही पुनः उत्पन्न हो जाएं क्योंकि हमने तुम्हें खोदते समय तुम्हारे मर्म को आघात नहीं पहुँचाया है, तुम्हारे हृदय पर चोट नहीं लगाई है-

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्।।

पृथ्वी पर प्रसन्नतापूर्वक नाचने गाने वाले मनुष्यों का बहुत सजीव चित्र इस सूक्त में दिया गया हैं-

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्याः।।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अथर्ववेद का ऋषि राष्ट्र की सीमाओं का अतिक्रमण करके यह घोषणा कर रहा है कि इस पृथ्वी पर जो मनुष्य रहते हैं वे भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलत हैं और भिन्न-भिन्न धर्मों को मानने वाले हैं तथा यह पृथ्वी उन सभी का घर है-

जनं बिभ्रति बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

ऋषि पृथ्वी की महिमा से अच्छी तरह परिचित है वह कहता है ''मै जो कुछ मधुर बोलता हूँ, हे पृथ्वी ! वह तुम्हारी ही कृपा का फल है,

मुझे जो कुछ प्रिय दिखाई देता है वह भी तुम्हारी ही कृपा का फल है। मैं तुम्हारी कृपा से तेजस्वी और वेगवान् बना हूँ और तुम्हारी ही कृपा से साधुपुरुषों की रक्षा और दुर्जनों का नाश कर सका हूँ–

यत् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः।।

इस प्रकार पूरे वैदिकसाहित्य में पर्यावरण की रक्षा के संबंध में गम्भीर सङ्केत पद-पद पर मिलते हैं। हमारे देश के पास यह ऐसी अमूल्य सम्पदा है जिसके आधार पर यह सम्पूर्ण विश्व के कल्याण में अपना अपूर्व योगदान दे सकता हैं। यही हमारे ऋषि-ऋण से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है।

यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद् गन्धो वाति,
एवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति।।

(नारायणोपनिषद् २/११)

जैसे फ्ले हुए वृक्ष की सुगन्ध दूर-दूर तक फैल जाती है,
वैसे ही पवित्र कर्मों की सुगन्ध दूर-दूर तक पहुँच जाती है।।

❑❑❑

यज्ञ विज्ञान और जैन जीवन दृष्टि

[दो धाराओं की एक तटस्थ तुलना इस लेख में है— सम्पादक]

वैदिक धर्म का मेरुदण्ड यज्ञ है। जैनागमों में धर्म का मूल त्याग को कहा गया है। यज्ञ का अंग्रेजी में अनुवाद किया गया- Sacrifice. Sacrifice का अर्थ भी त्याग ही है। यज्ञ शब्द यज् धातु से निकला है, त्याग शब्द त्यज् धातु से निकला है। यज् और त्यज् में ध्वनि साम्य ही नहीं है अर्थ-साम्य भी है। यज्ञ में जो आहुति दी जाती है उसके अन्त में कहा जाता है- यह आहुति अमुक देवता के लिये यह मेरी नहीं है- इदममुकदेवतायै इदन्न मम। यह ममत्व का त्याग है। जैन परम्परा में जब व्रतधारण किये जाते हैं तो सावद्य कर्मों का त्याग किया जाता है। ममत्व का त्याग कहें या सावद्य कर्मों का त्याग-- मूलतः बात एक ही है; ममत्वपूर्वक किये गये कर्म ही तो सावद्य हैं।

हम यज्ञ विज्ञान और जीवन दृष्टि पर कुछ और कहने से पहले यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझते हैं कि दोनों में बहुत समानता है किन्तु एक भेद भी है-- वेद समाज को केन्द्र में रखता है, व्यक्ति परिधि पर है; जैन व्यक्ति को केन्द्र में रखते हैं, समाज परिधि पर है। इस दृष्टि भेद के कारण ही वैदिक परम्परा और जैन परम्परा पृथक् हो जाती हैं किन्तु यदि व्यक्ति की बात करें तो जैन परम्परा के दश लक्षण धर्म तथा मनुस्मृति के दश लक्षण धर्मों में अद्भुत साम्य है और यदि समाज की बात करें तो ऋषभदेव के मसि, असि और कृषि ही तो वैदिक परम्परा के

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तथा शिल्प वैदिक परम्परा के शूद्र हैं। समाज की दृष्टि से व्यवसायों का विभाजन आवश्यक है, वह विभाजन वेद की वर्ण व्यवस्था में किया गया जिसे वर्णधर्म नाम दिया गया तथा व्यक्ति की दृष्टि से जिस धर्म का पालन आवश्यक है वैदिक परम्परा ने उसे सामान्य-धर्म नाम दिया और ये सामान्य-धर्म वे ही हैं जो जैन परम्परा की आचार-मीमांसा में उपलब्ध होते हैं। व्यक्ति-केन्द्रित जैन परम्परा ने सामान्य धर्मों को मोक्ष-धर्म नाम दिया और वर्णधर्मों के लिये एक सामान्य नियम बना दिया कि वर्ण धर्म लौकिक धर्म है और जैनों को उनका भी पालन उसी प्रकार करना चाहिये जिस प्रकार अन्य लोग करते हैं बस इतना ध्यान रखना चाहिये सम्यग्दृष्टि और व्रतों का उल्लंघन न हो-

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र न सम्यक्त्वहानिर्यत्र न व्रतदूषणम्।।

अर्थात् केन्द्र में तो व्यक्ति रहे और व्यक्ति को केन्द्र में रखकर सामाजिक कर्त्तव्यों का भी पालन जैन को करना है, चाहे वे सामाजिक कर्त्तव्य सावद्य भी हैं। स्थानाङ्ग सूत्र ने इन सामाजिक कर्त्तव्यों का भी समावेश ग्राम धर्म नगर धर्म आदि के अन्तर्गत कर दिया। दूसरी ओर क्योंकि वैदिक परम्परा समाज को केन्द्र में रखकर चल रही थी अतः उसने उन सामाजिक कर्त्तव्यों को जिन्हें व्यक्ति -केन्द्रित जैन परम्परा सावद्य मान रही थी, सावद्य न मानकर पुण्य ही माना। यह दृष्टि भेद का फ ल है। आचार्य भिक्षु की सूक्ष्म दृष्टि ने इस दृष्टि भेद को पकड़ा और यह घोषणा कि सामाजिक दृष्टि से भले ही कुछ कर्म करणीय हो सकते हैं किन्तु मोक्षधर्म की दृष्टि से तो वे सावद्य ही कहे जायेंगे। आचार्य तुलसी ने इस मोक्षधर्म के ही एक ऐसे अंश को जो सामाजिक दृष्टि से भी उपयोगी था लेकर अणुव्रत आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया। यह अणुव्रत संहिता विश्वभर के धर्मों के लिये Common Minimum Moral Programme जैसी है। आचार्य महाप्रज्ञ ने जैनागमों से ध्यान पद्धति निकाल कर

प्रेक्षाध्यान का प्रणयन किया जिसे Common Minimum Spiritual Programme कहा जा सकता है। इन दो आचार्यों ने अणुव्रत ओर प्रेक्षाध्यान रूपी जैनागमों का एक सम्प्रदाय-निरपेक्ष नवनीत जैन-अजैन सबको परोसा। '**मा हिंस्यात्सर्व भूतानि**' जैसे अहिंसा-परक '**सत्यमेव जयते**' जैसे सत्यपरक '**मा गृधः कस्यस्विद्धनम्**' जैसे अचौर्यपरक '**ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युपाध्नन्**' जैसे ब्रह्मचर्यपरक तथा '**न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः**' जैसे अपरिग्रहपरक श्रुतिवाक्य जहाँ पाँचों व्रतों का डिण्डिम घोष पूर्वक प्रतिपादन-समर्थन कर रहे हैं वहाँ '**कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्**' जैसी श्रुति प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया के समर्थन में बल पूर्वक उपस्थित है।

यह सब होने पर भी गीता के '**हतश्चेत्प्राप्स्यति स्वर्गं जितश्चेत् भोक्ष्यसे महीम्**' का समन्वय जैनों की अहिंसा की अवधारणा के साथ करना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। यदि पाकिस्तान अथवा चीन जैसा कोई राष्ट्र भारत पर आक्रमण कर दे तो समाज-केन्द्रित दृष्टि से युद्ध अनिवार्य ही नहीं प्रशंसनीय भी हो जाता है। इसी आधार पर तो काव्य-शास्त्र में युद्ध-वीर रस नाम का एक रस माना गया है और इसी आधार पर हम आज भी परमवीर चक्र आदि सम्मान प्रदान करते हैं। जैन आत्म-सुरक्षा के लिये गृहस्थ को युद्ध की अनुमति तो दे देगा किन्तु युद्ध में मरने पर स्वर्ग मिलने वाली बात से सहमत नहीं होगा। संक्षेप में कषायवश किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट देना हिंसा है और ऐसी हिंसा सामाजिक प्राणी के लिये अपरिहार्य तो हो सकती है किन्तु श्लाघ्य कदापि नहों हो सकती।

यज्ञ के सन्दर्भ में हिंसा की चर्चा जैन-अजैन दोनों परम्पराओं में खूब हुई है। अग्नि में सोम की आहूति देना यज्ञ है। अग्नि में जो भी डाला जाता है अग्नि उसका एक अंश आत्मसात् कर लेती है और दूसरा अंश

बाहर फेंक देती है। जठराग्नि में जो भोजन हम डालते हैं, उसका एक अंश जठराग्नि आत्मसात् करके उससे शरीर के रक्त मांस मज्जादि तत्त्वों का निर्माण करती है और शेष अंश को मलमूत्र स्वेद आदि के रूप में शरीर से बाहर फेंक देती है। जो अंश आत्मसात् कर लिया जाता है वह ब्रह्मौदन कहलाता है और जो अंश बाहर फेंक दिया जाता है उसे प्रवर्ग्य कहते हैं। इस प्रवर्ग्य का ही नाम उच्छिष्ट अथवा यज्ञोच्छिष्ट भी है। जो मेरा यज्ञोच्छिष्ट है वह दूसरे पेड़ पौधे आदि का खाद के रूप में भोजन बन जाता है। पेड़ पौधे भी उस खाद से अपना पोषण-संवर्धन करते हैं। किन्तु वे भी अपना कुछ अंश फल-फूल आदि के रूप में बाहर फेंक देते हैं। वह फल-फूल आदि वृक्ष में चलने वाले यज्ञ का प्रवर्ग्य अथवा यज्ञोच्छिष्ट है। वह फिर मेरे लिये भोजन बन जाता है। भोजन का नाम सोम है, भोक्ता का नाम अग्नि है। अग्नि में सोम की आहूति ही यज्ञ है। इस यज्ञ के दो काम हैं- भोक्ता के लिये आवश्यक अंश उसे देना तथा जो अंश उसके लिये अनावश्यक है उसे बाहर फेंक देना। एक भोक्ता के द्वारा बाहर फेंका गया यह यज्ञोच्छिष्ट दूसरे भोक्ता का भोजन बन जाता है। वह दूसरा भोक्ता भी उस समस्त यज्ञोच्छिष्ट को भी पूरा आत्मसात् नहीं करता अपितु अपने अनुकूल ही अंश को ग्रहण करता है, शेष अंश को बाहर फेंक देता है। यह Assimilation (आत्मसात्करण) तथा Elimination (प्रवर्जन= प्रवर्ग्य) की प्रक्रिया पूरे, ब्रह्माण्ड में चल रही है। दूसरे का यज्ञोच्छिष्ट मैंने ग्रहण किया अपना यज्ञोच्छिष्ट मैंने दूसरे को दिया। यही आदान-प्रदान अथवा सङ्गतिकरण है जिसे यज्ञ कहा जाता है। जैन इसे **'परस्परोपग्रहो जीवानां'** सूत्र के द्वारा कहते हैं गीता इसे **'परस्परं भावयतः'** कहती है महाभारत इसे **'ददाति प्रतिगृह्णाति एष धर्मः सनातनः'** कहती है।

जीवन का आधार हिंसा को मानने वाले **'जीवो जीवस्य भोजनम्'** का उद्घोष करते हैं। यज्ञ विज्ञान जीव के द्वारा जीव को खाने की अनुमति नहीं देता प्रत्युत जीव के द्वारा उत्सृष्ट प्रवर्ग्य को भोगने की

अनुमति देता है। यहीं अहिंसा है। मैं गाय के मांस को खाऊँ यह हिंसा है क्योंकि गाय का मांस गाय की जठराग्नि ने आत्मसात् कर लिया है; वह गाय का ब्रह्मौदन है, प्रवर्ग्य नहों। गाय का दूध गाय का प्रवर्ग्य है ; वह गाय के द्वारा उत्सृष्ट है। उस दूध को लेने में हिंसा नहीं है। इसे ही गीता ने **'यज्ञशिष्टाशनः सन्तः मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः'** कहा है। हाँ, यह दूध भी मूलतः बछड़े-बछड़ी का ब्रह्मौदन बनने वाला है किन्तु अतिरिक्त पौष्टिक आहार देकर बछड़े-बछड़ी की आवश्यकता से जो बचा हुआ दूध है उसी पर मेरा अधिकार है- **तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**। जब घर-घर में गौपालन होता था और दूध बेचना पाप समझा जाता था तब बछड़े-बछड़ी के लिये आवश्यक दूध उसे पिलाने पर बचे हुए दूध से ही घर के लोग अपना काम चला लेते थे। इस अतिरिक्त दूध को प्राप्त करने के लिये वे गाय को अतिरिक्त खल बिनौला आदि पौष्टिक आहार देते थे। आज इंजैक्शन लगाकर ज्यादा दूध प्राप्त करके और बछड़े बछड़ी को भूखा रख कर जो डेयरी का दूध हमें मिल रहा है, उसे पीना यज्ञ शेष का भोगना नहीं अपितु ब्रह्मौदन का भोगना है और इसलिये ऐसे दुग्धाहार को भी अहिंसक नहीं माना जा सकता । यह यज्ञ की अहिंसक दृष्टि है जिसके कारण यज्ञ को अध्वर अर्थात् हिंसा-रहित कहा जाता है। इस यज्ञोच्छिष्ट पर ही सब प्राणी टिके हैं- **उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे**ः। एक दूसरे के सहारे के बिना तो हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। श्वासोच्छ्वास के लिये भी हमें ऑक्सीजन चाहिये जो पेड़-पौधों के द्वारा छोड़ी जाती है। एक का प्रवर्ग्य दूसरे का ब्रह्मौदन बन रहा है और दूसरे का प्रवर्ग्य पहले का ब्रह्मौदन बन जाता है। इसे ही यज्ञ -चक्र कहा गया है । जो इस यज्ञ-चक्र का उल्लंघन करता है, वही हिंसक है। संक्षेप में लेना पर देना नहीं यह हिंसा का पहला रूप है, अन्य का अधिकार छीन लेना यह हिंसा का दूसरा रूप है। किसी का अधिकार छीने बिना लेना और लेने के साथ देना भी - यह अहिंसा का स्वरूप है। किसी से ले भी नहीं, किसी को कुछ दे भी नहीं- **कछु लेना**

न देना मगन रहना– यह यज्ञ विज्ञान नहीं है, ब्रह्म विद्या है। गृहस्थ को तो यज्ञ करना ही है क्यों कि वह सामाजिक प्राणी है, संन्यासी ब्रह्मवित् है, उसे आत्मयाजी कहा गया है।

जैन क्योंकि संन्यास–प्रधान धर्म है अतः यज्ञ की दृष्टि में वह आत्मयाजी धर्म है। वहाँ द्रव्य यज्ञ का समर्थन नहीं। इस भूमिका में गीता ने द्रव्य यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान–यज्ञ को श्रेष्ठ माना है।

आदान का काम आगति है। प्रदान का काम गति है। आगति केन्द्राभिमुख गति है जिसे विज्ञान Centripetal Movement कहता है। गति परिध्युन्मुख गति है जिसे विज्ञान Centrifugal Movement कहता है। वैदिक परिभाषा में आगति विष्णु है गति इन्द्र है। जैन परिभाषा मं आगति उत्पाद है, गति व्यय है। उत्पाद–व्यय अथवा गति–आगति निरन्तर चल रहे है। इन दोनों के बीच की स्थिति इन दोनों को संभाले रहती है। यह स्थिति वैदिक परिभाषा की ब्रह्मा है और जैन परिभाषा की ध्रुवता है। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य कहें, आगति–गति–स्थिति कहें अथवा विष्णु–इन्द्र–ब्रह्मा कहें। यह तीनों एक साथ हैं। यही जैनों का अनेकान्त है और इसे ही मीमांसकों ने **'तस्माद्वस्तु त्रयात्मकं'** कहा है।

उत्पाद–व्यय पर्याय के जनक है। जिसे जैन पर्याय कहता है, वेद उसे अभ्व कहता है। अभ्व का अर्थ है जो अभी है और अभी नहीं है। व्याख्या के रूप में अभ्व नाम है—नाम–रूप का। पर्याय बदलने का अर्थ है रूप का बदल जाना। रूप बदलता है तो नाम भी बदल जाता है।

नाम रूप परिवर्तनशील हैं, वे पर्याय हैं, अभ्व हैं, अभ्व आभु पर टिका है। आभु स्थिर है। वेद का आभु ही जैन का द्रव्य है। बल अथवा अर्थक्रियाकारित्व पर्याय में है। रस अथवा आनन्द आभु अर्थात् स्थिरता में है। जिसकी दृष्टि द्रव्य पर वह समता में स्थित है, पर्याय–दृष्टि स्थिर नहीं रह सकतो। समता ही स्थितप्रज्ञता है।

कहा गया कि सूर्य ही अग्निहोत्र का निदर्शन है। सूर्य स्थिर है। यजमान को भी सुख में दु:ख में स्थिर रहना चाहिये। प्रतीत होता है कि सूर्य चल रहा है, चलती वास्तव में पृथ्वी है। प्रतीत होता है कि पुरुष की उन्नति-अवनति हो रही है, वस्तुत: परिवर्तन प्रकृति में होते हैं, पुरुष में नहीं। यह ज्ञान ही सांख्य की विवेकख्याति है और जैन दर्शन का भेद विज्ञान है। सूर्य हमारा अनन्त उपकार करता है किन्तु न उसे इस बात का कोई अहङ्कार है न वह अपने उपकार के बदले में किसी प्रत्युपकार की माँग करता है। अत: सूर्य वास्तविक यज्ञ-कर्ता है। तीर्थङ्कर हमारा कितना उपकार करते हैं किन्तु उन्हें न इस बात का कोई अहङ्कार होता है न वे किसी प्रतिफल की इच्छा करते हैं। वे सच्चे यज्ञ-कर्त्ता हैं। हम यजमान बनें या तीर्थङ्कर दोनों का फलितार्थ एक ही है।

❐❐❐

श्रीमद्भगवद्गीता की अभिनवगुप्तकृत गीतार्थसंङ्ग्रहटीका का वैशिष्ट्य

[गीता की एक अल्पपरिचित किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका का मत संक्षेप में इस लेख में दिया गया है— सम्पादक]

अभिनव गुप्त (९५०-१००० ई.) संस्कृत के लेखकों में नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती और ध्वन्यालोक पर लोचन टीका के लेखक के रूप में जहां साहित्य जगत् में अपना स्थान बनाये हैं वहां परमार्थसार, तन्त्रालोक और ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृत्ति जैसे ग्रन्थों के कारण दर्शन के क्षेत्र में भी अग्रगण्य हैं। साहित्यशास्त्री के रूप में डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अभिनव गुप्त का वैशिष्ट्य अपने ग्रन्थ Abhinavgupta: A Historical and Philosophical study में उजागर किया है। काश्मीर शैव दर्शन तथा तन्त्र पर कार्य करने वाले विद्वानों ने भो अभिनवगुप्त के दार्शनिक पक्ष पर प्रकाश डाला है, किन्तु अभिनव गुप्त की श्रीमद्भगवतगीता पर लिखी टीका की ओर विद्वानों का ध्यान अपेक्षाकृत कम गया है।

१९१२ में बम्बई के निर्णयसागर प्रेस से गीता पर जो छः टीकाएं प्रकाशित हुई उनमें अभिनव गुप्त की गीतार्थसङ्ग्रह टीका भी थी। १९३३ में पण्डित लक्ष्मण रैना ब्रह्मचारी ने गीतार्थ संग्रह का पृथक् से भी प्रकाशन किया। इसी संस्करण को आधार बनाकर १९८५ में डा. एस. शङ्करनारायणन् ने अंग्रेजी अनुवाद सहित गीतार्थसंग्रह का संस्करण तिरुपति के ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से दो भागों में प्रकाशित किया। हमने प्रस्तुत निबन्ध में इसी संस्करण का उपयोग किया है। इससे पूर्व १९७६ में Prof. Raneiro Gnoli ने रोम विश्वविद्यालय से गीतार्थसंग्रह का

इटेलियन अनुवाद भी प्रकाशित किया था। इसी प्रकार १९८३ में सिडनी विश्वविद्यालय से डॉ. अरविन्द शर्मा ने भी गीतार्थ संग्रह का अनुवाद प्रकाशित किया था। पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री का मन्तव्य है कि श्रीमद्भगवदगीता की सभी टीकाओं में अभिनवगुप्त की टीका वेद विज्ञान के सर्वाधिक निकट है। वस्तु स्थिति यह है कि अभिनवगुप्त की टीका गीता की अन्य टीकाओं की अपेक्षा कुछ विलक्षण है।

अभिनवगुप्त की टीका अत्यन्त संक्षिप्त है। इसका कारण यह है कि अभिनवगुप्त गीता के प्रत्येक श्लोक की व्याख्या करना आवश्यक नहीं समझते। वे केवल उन्हीं श्लोकों पर टीका लिखते हैं जहां उन्हें कुछ विशेष कहना होता है। उदाहरणत: गीता के प्रथम अध्याय के ४७ श्लोकों में से उन्होंने केवल ६ श्लोकों पर ही (१,१०,३४,४४,४५,४६) टीका की है।

अभिनव गुप्त के अनुसार महाभारत का प्रधान फल मोक्ष ह। धर्म उसका परिपोषक है—(**द्वैपायनेन मुनिना यदिदं व्यधायि शास्त्रं मोक्षः प्राधान्यतः फलतया प्रथितस्तदन्यद्धर्मादि तस्य परिपोषयितुं प्रगीतम्।।** – गीतार्थसङ्ग्रटीका, उपोद्घात श्लोक २) गीता में उसी मोक्ष की प्राप्ति का उपाय बताया गया है। विद्या–अविद्या का संग्राम देवासुर संग्राम के समान है। जो नितान्त अविद्याग्रस्त है अथवा जिसने अविद्या का सर्वथा उन्मूलन कर दिया है, वे दोनों ही उपदेश के अधिकारी नहीं हैं, अपितु जो संशय की स्थिति में हैं, वही उपदेश के अधिकारी हैं।

ज्ञान मुख्य है, किन्तु कर्मों का अनुष्ठान भी छोड़ना नहीं चाहिये। कर्म की परिसमाप्ति ज्ञान में होती है। यह जानने पर कार्य बन्धक नहीं होते। ज्ञान प्रधान है, कर्म गौण है।

अभिनव गुप्त ने गीता के प्रथम श्लोक की व्याख्या में ही शरीर को धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र माना है क्योंकि यह करण अर्थात् इन्द्रियों का क्षेत्र है और सारे सांसारिक धर्मों के उत्पत्ति का निमित्त है और यही सब धर्म अर्थात्

आत्मदर्शन का साधन है। इसी में राग-वैराग्य, क्रोध-क्षमा इत्यादि का परस्पर संघर्ष चलता रहता है। इसमें ममता से युक्त ''पाण्डव'' पाण्डु अर्थात् शुद्ध विद्यालय है। गीता के इस प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ लेने की परम्परा का मूल वैदिक साहित्य में खोजा जा सकता है जहां इन्द्र और वृत्र के युद्ध को एक प्रतीक बताया गया है-(पण्डित मोतीलाल जी शास्त्री: शतपथ ब्राह्मण प्रथम खण्ड पृ. २६९ पर उद्धृत) प्रथम श्लोक के ही इस प्रकार के प्रतीकात्मक अर्थ लेकर अभिनवगुप्त ने यह स्पष्ट कर दिया कि वे गीता को एक ऐतिहासिक सन्दर्भ में न लेकर दार्शनिक सन्दर्भ में लेना चाहते हैं।

अभिनव गुप्त के मत में अर्जुन के द्वारा गीता में प्रस्तुत पूर्व पक्ष इसलिए ठीक नहीं है कि वह सामने खड़े हुए व्यक्तियों को आचार्य, पिता आदि के रूप में रखकर राज्यभोग और सुख की आकांक्षा से किये जाने वाले युद्ध का निषेध कर रहा है। इस दृष्टि से किया गया युद्ध तो पाप है भी; कर्म का अनुष्ठान कर्तव्य के पालन मात्र की दृष्टि से करना चाहिये।

बुद्धि का अर्थ है अनेक विकल्पों में से एक निश्चयात्मक ज्ञान कराने वाली वृत्ति। जड होने के कारण कर्म स्वयं नहीं बांधते। आत्मा ही आत्मा को वासनात्मक कर्मों से बाँधती है, जो जन्म का फल कर्म मानते हैं वे वेदवाद में रत रहने के कारण समाधि को प्राप्त नहीं हो सकते। वैदिक-कर्म स्वयं बन्धक नहीं हैं अपितु सुख, दु:ख, मोह रूपी त्रिगुण के कारण बन्धक है। अभिनवगुप्त का कहना है कि गीता का अभिप्राय वेद की निन्दा करना होता तो युद्ध करने का ही निर्णय नहीं लिया जा सकता था, क्योंकि वेद के अतिरिक्त और किसी उपाय से अपने धर्म का निश्चय नहीं किया जा सकता। जिनमें फल की अभिलाषा नहीं रह गई उनके लिए वेद बन्धक नहीं है।जो अपने धर्ममात्र के पालन के अथवा ज्ञान के इच्छुक हैं उनका प्रयोजन परिमित वेदवाक्यों से ही सिद्ध हो जाता है। जो फल की इच्छा नहीं करता उसे फल प्राप्त नहीं होता, अपितु फल की

प्रार्थना न करने वाले को कर्म से ज्ञान को प्राप्त होता है। इसके विपरीत कर्म के अभाव में भी जो आसक्त है वह बन्धन में पड़ता है और मिथ्याज्ञान को पाप्त होता है। जो बुद्धियोग से युक्त है वह अपकृष्ट निरर्थक कर्म से दूर रहता है। अभिनव गुप्त की व्याख्या है कि अर्जुन के प्रश्न उस शास्त्र के संस्कार के कारण है जो अज्ञानियों के लिये बने हैं।

स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त ने चार प्रश्न उठाये। पहला प्रश्न है कि यह शब्द रूढ है या यौगिक। दूसरा तपस्वी भी स्थितप्रज्ञ होता है या नहीं। तीसरा स्थितप्रज्ञ का क्या आचरण होता है? चौथा स्थितप्रज्ञता का क्या फल है? उत्तर यह है कि स्थितप्रज्ञ यौगिक शब्द है। स्थितप्रज्ञ का सुख के प्रति न राग है न द्वेष। तपस्वी स्थितप्रज्ञ नहीं है क्योंकि उसका विषयों के प्रतिराग बना रहता है। शैवदर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के पदार्थ भी आत्मरूप ही हैं। स्थितप्रज्ञ उन दोनों को आत्मसात् कर लेता है। तपस्वी का राग निवृत्त नहीं होता, किन्तु परमेश्वर का दर्शन करने के कारण योगी का राग दूर हो जाता है।

तपस्वी जब इन्द्रियों के विषयों को छोड़ता है तो उन पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है और उन पर ध्यान केन्द्रित करने के कारण ही उनसे उसकी आसक्ति बन जाती ह। अत: स्थितप्रज्ञ विषयों का सेवन करते हुए भी क्रोधादि से अभिभूत नहीं होता।

माया के दो रूप हैं- मोहकता और विषयों में सुख की प्रतीति। सामान्य व्यक्ति मोहकता के कारण विषयों में सुख की प्रतीति करता है यही उसकी रात्रि है। योगी माया के मोहपाश में न फंसने केकारण विषयों का आदर नहीं करता यही उसका जागना है।

प्रश्न होता है कि यदि ज्ञान से ही मुक्ति है तो कर्म का क्या प्रयोजन है—(**कर्मणां किं प्रयोजनमिति प्रश्नाभिप्रायः।** उपरिवत् ३.१-२) उत्तर यह है कि सांख्य ज्ञानप्रधान तथा योग कर्मप्रधान है किन्तु संवित् ज्ञान

क्रियामय होने के कारण दोनों का समन्वय है—(**सांख्यानां ज्ञानं प्रधानम्, योगिनां च कर्मेति। मया तु सा एकैव निष्ठा उक्ता ज्ञानक्रियामयत्वात् संवित्तत्त्वस्येति भावः।** -उपरिवत्, ३.३)

अतः ज्ञान के अन्तर्वर्ती कर्म अपरिहार्य हैं। ज्ञान और कर्म दो हैं ही नहीं—(**ज्ञानं कर्मणा रहितं न भवति, कर्म च कौशलोपेतं ज्ञानरहितं न भवति, इत्येकमेव वस्तु ज्ञानकर्मणी। तथा चोक्तम्**-

न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।
ज्ञानक्रियाविनिष्पन्न आचार्यः पशुपाशहा।। उपरिवत् ३.६

कर्मेन्द्रियों से कर्म न करने पर भी मन से कर्म होते रहते हैं, किन्तु यह स्थिति मूढाचार की है। मन से व्यापार न हो तो कर्म से ज्ञान की हानि नहीं होती। अवश्य करणीय कर्म बन्धक नहीं होते। संग से संसार और निस्सङ्गता स मोक्ष होता है।

इन्द्रियों को कर्म से तृप्ति मिलती है और इन्द्रियों की तृप्ति से समाधि में सहायता मिलती है तथा समाधि से इन्द्रियाँ तृप्त होती है। इस प्रकार ब्रह्म की प्राप्ति होती है। कर्म से तृप्त इन्द्रियाँ ही ध्येय में ध्यान लगा सकती हैं। इसलिए इन्द्रियों के उपभोग का सेवन इन्द्रियों की तृप्ति मात्र के लिये करना चाहिये। अवश्य करणीय कर्म के फलस्वरूप जो भोग प्राप्त होते हैं उनसे इन्द्रियों को तृप्त करके आत्मस्थिति का मुख्य लक्ष्य लेकर चलने वाले शुभ-अशुभ के भाव से उपर उठ जाते हैं। किन्तु जो इन्द्रियों के भोगों को ही अविद्या के कारण अन्तिम फल मानते हैं वे शुभ-अशुभ के बन्धन में बंधते हैं।

अन्न प्रकृति है जिसे प्रधान भी कहा जाता है। यही सबका कारण है। भूत का अर्थ बुद्धि से पृथिवी पर्यन्त चौबीस तत्व हैं। प्रकृति अर्थात् अन्न का जन्म भी पर्जन्य अर्थात् आत्मा से हुआ, क्योंकि भोक्ता से ही भोग्य की स्वरूपसिद्धि होती है। जिस प्रकार भोग्य भोक्ता के अधीन है भोक्ता भोग्य के अधीन है दोनों परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। भोग की क्रिया

क्रियाशक्ति के स्वातन्त्र्य से होतो है। यह क्रियाशक्ति का स्वातन्त्र्य ब्रह्म के संस्पर्श से उत्पन्न होता है। यह ब्रह्म संवित् से उत्पन्न होता है। संवित् में कोई तरंग नहीं है।

अभिनव गुप्त ने यज्ञ के छः अरे माने हैं– पर्जन्य, अन्न और भूत। ये तीन अरे निम्नगामी है और कर्म, ब्रह्म तथा अक्षर ये तीन अरे ऊर्ध्वगामी हैं। डॉ. कान्तिचन्द्र पाण्डे के अनुसार यहां अक्षर कालदर्शन का अनुत्तर तत्त्व है इसे अनुत्तर इसलिए कहते हैं कि इसमें प्रश्नोत्तर का अवकाश नहीं है। ''ब्रह्म से कर्म उत्पन्न होता है'' का अर्थ यह है कि ज्ञान से कर्म उत्पन्न होता है। ज्ञान का आकर होने के कारण वेद भी ब्रह्म कहलाता है। उस वेद से ही हमें कर्तव्य कर्म का बोध होता है। विद्या के तीन अरे और अविद्या के तीन अरे मिलकर यज्ञ के छः अरे होते है। इसी में ब्रह्म प्रतिष्ठित है। जो इस चक का अनुसरण नहीं करता वह आत्मा में रमण न करके इन्द्रियों में ही रमण करता है। इसके विपरीत जो आत्मरमण करता है उसका कर्म भी अकर्म ही है वह प्राणियों के प्रति किसी स्वार्थवश निग्रह अनुग्रह नहीं करता, अपितु कर्तव्यभावना से ऐसा करता है।

जो अज्ञ है वे कर्मवासना छोड़ कर ज्ञानधारा का अनुसरण नहीं कर सकते, सभी स्वधर्म से युक्त है। अतः उसका आचरण अनासक्त भाव से करने पर बन्धन नहीं होता । व्यक्ति काम क्रोध के कारण स्वधर्म को छोड़ता है। काम क्रोध अन्योन्याश्रित हैं।

क्रोध इत्यादि इन्द्रियों से भिन्न हैं, इन्द्रियां मन से भिन्न है, मन बुद्धि से भिन्न है और बुद्धि आत्मा से भिन्न है अतः इन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले क्रोध से मन, बुद्धि और आत्मा में क्षोभ नहीं होना चाहिए। जो सर्वपूर्ण अभेदात्मा है उसमें क्रोधादि उत्पन्न ही नहीं होते। उस संविदात्मा को ग्रहण कर क्रोध का उन्मूलन किया जा सकता है जो क्रोध वस्तुतः अज्ञानरूप ही है।

अवतार के सम्बन्ध में अभिनव गुप्त का कहना है कि अस्मदादि कर्मफल भोगने के लिए शरीर धारण करते हैं, किन्तु भगवान् आत्ममाया, भोगप्रज्ञा और अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण शरीर धारण करते हैं। भगवान् के कर्म भी दिव्य है क्योंकि वे फल देने में समर्थ नहीं है। श्री भगवान् के इस दिव्य जन्म और कर्म को जानने का फल यह है कि इनको जानने से साधक आत्मा की भी दिव्यता को जान लेता है और ऐसा ही साधक वासुदेव तत्व को भी जान सकता है। जो व्यक्ति सवत्र आनन्दघन परमेश्वर को ही जानता है उसके लिए कर्मबन्धन नहीं हो सकता।

कर्म की गहनता यह है कि विहित कर्म में भी दूषित कर्म रहते हैं जैसे अग्निष्टोम में पश्चालम्भन। विरुद्ध कर्म में भी शुभ का अस्तित्व है जैसे हिंसक प्राणी के वध से प्रजा के लिए कष्टों का अभाव हो जाना। अकार्य में भी वाणी और मन का कर्म तो रहता ही है। ज्ञान के बिना कर्म का परिहार नहीं हो सकता। ज्ञान ही शुभ–अशुभ कर्म को नष्ट करने में समर्थ है।

प्रशान्त होने के कारण जो कर्म में भी अकर्तृत्व देखता है और जो परिपूर्ण रूप से उदित हो जाने के कारण दूसरों के कर्म में भी आत्मकर्तृत्व जानता है। इस प्रकार या वह कुछ भी नहीं करता या सब कुछ करता है। प्रशान्त अवस्था में वह कुछ नहीं करता, उदय अवस्था में वह सब कुछ करता है।

विश्व ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है, ब्रह्म में ही अनुप्रविष्ट हो जाता है। विश्व ही ब्रह्म है जिसे चैतन्यरूप ब्रह्म में अर्पित किया जाता है। इससे ब्रह्म की ही प्राप्ति होती हे क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। ब्रह्म कर्म वह है जिससे आत्मस्वरूप का लाभ हो जाये यही वास्तवित यज्ञ है। जो सीमित फल वाले यज्ञों को करते है वे सीमित फल ही प्राप्त करते है।

अपरिमित फल वाले यज्ञ के स्वरूप को जानने वाले परिमित फल वाले यज्ञ को नहीं करते। अभिनव गुप्त इसे परम रहस्य बताते हुए कहते हैं कि इस रहस्य को वही समझ सकता है, जिसने गुरुमुख से ज्ञान प्राप्त किया है।

देव इन्द्रियां हैं। उनका अपने विषयों को ग्रहण करना ही यज्ञ है। कुछ इसी यज्ञ में लगे है। कुछ द्रव्य यज्ञ करते है किन्तु फल की इच्छा नहीं करते । वे भी परमब्रह्म को प्राप्त हो जाते है। ऋग्वेद के **''यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः''** का अर्थ अभिनवगुप्त के अनुसार यह है कि देवता यज्ञ को यज्ञ के रूप में ही करते हैं अर्थात् कर्तव्य समझकर करते है किसी फल की इच्छा से नहीं । जो मन की भिन्न-भिन्न अभिलाषाओं में इन्द्रियों को लगा देते है वे तपोयज्ञ कर रहे हैं। वस्तुस्थिति यह है कि भोग्य और भोक्ता में कोई भेद नहीं है।

आत्मसंयम की अग्नि में चित्त को लगा देना द्रव्य यज्ञ है। इससे चित्त एकाग्र हो जाता है। अभिनव गुप्त ने काश्मीर शैवदर्शन का पण्डित तथा साधक होने के नाते अपान में प्राण की आहूति देने तथा प्राण में अपान की आहूति देने की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन किया है। यह वर्णन शास्त्रीय है। इसलिए इस वर्णन को समझने के लिये थोड़ा विस्तार में जाना होगा। प्राण का अर्थ है उदीयमान नाद, जो प्रणव के आदिमात्रा के लय तक जाता है अर्थात् ओंकार के अकार से लेकर मकारपर्यन्त। प्रणव में जो उ क बाद चन्द्रबिन्दु रहता है वह कुण्डली है वही ओंकार का अन्त है। यह नाद अपान अर्थात् स्वानन्द में अन्तः प्रविष्ट होता है। यही प्राण का अपान में प्रविष्ट होना है जिसे शास्त्रीय भाषा में पिण्डस्थैर्य नामक स्वाध्याय कहा जाता है। तन्त्रालोक में इस उपाय को आणवोपाय कहा है। इसमें बुद्धि, प्राण और शरीर का उपयोग आत्मसाक्षात्मकार के लिए होता है। इससे साधक बुद्धि, प्राण और देह की जडता को छोड़कर संवित्रूप हो जाता है। इन तीनों में शरीर प्रधान है। बुद्धि का काम ध्यान है और

प्राण का काम उच्चारण। इन दोनों को शरीर धारण करता है। प्राण के द्वारा सात प्रकार के आनन्द उपलब्ध होते हैं— निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिदानन्द और जगदानन्द। निजानन्द प्रमाता की स्थिति है, जिसमें किसी प्रकार के अर्थ का बोध नहीं होता। निरानन्द प्रमाण अथवा प्राणोदय से उत्पन्न होता है।

जब पदार्थ आत्मस्वरूप ही लगने लगे तो परानन्द कहलाता है निजानन्द का आधार प्रमाता है, निरानन्द का आधार प्रमाण है और परानन्द का आधार प्रमेय है। इस प्रकार प्राण और अपान पर ध्यान केन्द्रित करने का फल निजानन्द से परानन्द तक पहुँचना है। नाद सर्वव्यापक है। इसका एक स्वरूप अहम् है। यह उत्तम मन्त्र है।

स्वाध्याय का अर्थ है स्व में जाना । प्राण का अर्थ है उदय। अपान का अर्थ है अस्त। यह स्वाध्याय शरीर के स्तर पर होता है। अष्टांग योग का पूरक और रेचक ही तन्त्र का अहम् और म ह अ हैं। अहम् को विपरीत करने पर म ह अ बनता है। क्योंकि अहम् शक्ति प्रधान है। यही अमर्श है, यही सृष्टि हैं। म ह अ में शक्तिमत प्रधान है, यही विमर्श है, यही संहार है। स्वाध्याय यज्ञ ही ज्ञानयज्ञ है। इसी से वासनामय महामोह दूर होता है।

जो भोगों से इन्द्रियों का तर्पण करते हैं यही यज्ञ है। उससे जो अवशिष्ट परानन्द निरानन्द रूप अमृत है उसे भोगने वाले ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं। इस विषय को अभिनवगुप्त ने अत्यन्त रहस्य मानकर स्फुट रूप में प्रकट करने से इन्कार कर दिया है। यह तन्त्र की प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत भोग योग साधन बन जाता है।

योग के बिना संन्यास सम्भव नहीं है। संन्यास और कर्मयोग दोनों मिलकर ही निःश्रेयस् के कारण है। ज्ञान और योग का भी एकत्व है। योगी विधि निषेध से ऊपर होता है। जिस प्रकार दूसरे का किया कर्म स्वयं

को लिप्त नहीं करता उसी प्रकार इन्द्रियों के भोग भोगने से आत्मा लिप्त नहीं होता। यह अनासक्ति योग है। जैसे घर के जीर्ण होने से घर में रहने वाले पुरुष का कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार नौ इन्द्रियों से अलंकृत देह रूपी घर से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा का भी प्रवृत्त होना स्वभाव है। उसमें फल की इच्छा कारण नहीं है। आत्मा की स्वाभाविक प्रवृति से उत्पत्ति – स्थिति प्रलय होता रहता है। इसमें आत्मा का कर्तृत्व नहीं है। कर्म वस्तुतः क्रियाशक्ति का परिणाम है। सब चेतना के अन्दर ही है। वह चेतना क्रियाशक्ति से भिन्न नहीं है। पाप आत्मा नहीं करती किन्तु अज्ञान स वे उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार अमृत में भी विष का सन्देह हो जाता है। उसी प्रकार अज्ञान है। ज्ञान से अज्ञान के नष्ट होने पर विष की शङ्का दूर हो जाती है और अमृत स्वयं ही अमृत का कार्य कर देता है। योगी सर्वत्र समदृष्टि होते है, किन्तु सर्वत्र समान व्यवहार नहीं करते। सब में चेतना है। कहीं कोई भेद नहीं है। आनन्द अन्दर है बाह्यापेक्षी नहीं है। व्यवहार मूढ़ की तरह ही किया जाता है। जिसके लिए सब अवस्थाओं में ब्रह्म की ही सत्ता है, उसके लिए समाधि की अवश्यकता नहीं ह।

भू का अर्थ है वाम–दक्षिण दृष्टि अर्थात् राग द्वेष के बीच राग–द्वेष रहित स्थिति। प्राण और अपान धर्म और अधर्म है। इनके बीच की स्थिति साम्यावस्था है।

योगी को न विषय के त्याग के बारे में सोचना चाहिये न ग्रहण के बारे में। इन्द्रियों का संयम मन से करना चाहिये, इन्द्रिय व्यापार को रोककर नहीं। योग का फल ज्ञान है। जो व्यक्ति केवल निष्क्रिय होकर संन्यासी होने का दावा करता है वह उसी प्रकार है जिस प्रकार कोई व्यक्ति बिना सिंहासन के केवल जुआ खेलकर राजा होने का दावा करता है। अभाव को ध्यान का विषय नहीं बनाना चाहिये।

ज्ञान और विज्ञान को अभिनव गुप्त ने ज्ञान और क्रिया माना है। विज्ञान का सम्बन्ध कर्म से ही जोड़ा जाता है। ज्ञान से उत्पन्न होने वाला कर्म ही विज्ञान है। शैव दर्शन के अनुसार शिव हो प्रकृति और पुरुष के रूप में आभासित होता है। जड़ और चेतन का भेद माया के कारण अवभासित होता है। यह वास्तविक नहीं है। जिस प्रकार दर्पण में नगर ग्रामादि का चित्र अविभक्त होकर भी विभक्त जैसा होता है और दर्पण से भी विभक्त दिखाई देता है, उसी प्रकार बोध से विभाग शून्य होने पर भी यह जगत् बोध से पृथक् और परस्पर भी पृथक् दिखता है।

परम शिव ही द्रष्टा और दृश्य दोनों है। भोग्य पदार्थ भोक्ता से भिन्न नहीं है। इसलिए वे आत्मसाक्षात्कार में बाधक नहीं, साधक ह। बल का अर्थ है आसक्ति और इच्छा से रहित सब वस्तुओं को धारण करने में समर्थ। ऊर्जा इच्छा चेतना की शक्ति है। इस इच्छा का घट पट आदि धर्म से कोई विरोध नहीं है। यह इच्छा भगवान् की शक्ति है जो घट पट आदि आगन्तुक धर्मों के कारण भिन्न है। त्रिगुण भगवान् से आये हैं, भगवान् त्रिगुण से नहीं। इसी अभिप्राय से सब कुछ वासुदेव कहा जाता है। ज्ञान सत्त्व है, क्रिया रजस् है और माया तमस् हैं ।शक्तिपात का अर्थ है अनेक जन्मों के कर्मों के भोग द्वारा कर्म में समता से उत्पन्न भगवत्कृपा। कर्मसमता का अर्थ है शुभ-अशुभ फलों के प्रति समता का भाव। प्रलय में जीवात्मा की वासनाएं सुप्तस्थिति में रहती है किन्तु इससे उसे मोक्ष नहीं मिल जाता क्योंकि पुनः व्यापार रूप संसार प्रारम्भ हो जाता है। यदि निष्क्रियता से ही मोक्ष मिलता हो तो प्रलय से सभी निष्क्रिय हो जाते है इसलिए सबका ही मोक्ष हो जाना चाहिये।

चेतना ब्रह्म का स्वभाव है। इसी से सृष्टि उत्पन्न हुई। यह अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से प्रमाता और प्रमेय दोनों को उत्पन्न कर देता है। शिव पर ध्यान कर देने से मनुष्य पाप से मुक्त हो जाता है और देह का भान छूट जाता है। विकल्प ही बन्धन का कारण है। विकल्प का उन्मूलन ही मोक्ष

है। क्षर का अर्थ है अधिभूत क्योंकि उसमें परिणमन होता रहता है। पुरुष अधिदैव है क्योंकि उसमें सभी देवता रहते हैं। कृष्ण ही अधियज्ञ है, क्योंकि वह सभी यज्ञों का भोग करता है।

अन्त समय में भी जो कृष्ण का ध्यान करता है वह मुक्त हो जाता है, किन्तु इसके लिये आजीवन भगवत्त्व का हृदय में ध्यान करना आवश्यक है, क्योंकि जिसका अन्त:करण में सदा ध्यान रहता है मरण के समय में भी उसी का स्मरण होता है। तथापि ज्ञानी अन्त समय में जडता को प्राप्त हो सकता है। अत: अन्त समय में भगवत्स्मरण हो यह आवश्यक नहीं। जिस भाव की भावना की जाती है, वही अन्त में प्राप्त होता है। सार यह है कि जीवनभर ही भगवत्स्मरण करना चाहिये। अन्त समय में भगवत्स्मरण हो पाये या न हो पाये। एक क्षण के लिए भी भगवत् स्मरण सारे संस्कारों का ध्वंस करने वाला है। जो भगवत् स्मरण करता है उसके लिये अन्तकाल में उत्तरायणादि शुद्ध देशकाल की अपेक्षा नहीं है। मोक्ष के लिए उत्क्रमण आवश्यक नहीं है, क्यांकि शिवसत्ता सर्वव्यापिनी है। आवागमन तभी तक है जब तक ब्रह्मपद प्राप्त न हो जाये। ब्रह्मलोक को प्राप्त करने पर भी पुनरावृत्ति होती है। ब्रह्मज्ञान के बिना मुक्ति नहीं। ब्रह्मा के भी दिन-रात है, अत: उसका भी जन्म-मरण है। दक्षिणायन और उत्तरायण का प्रश्न योगी के लिये महत्वपूर्ण नहीं है।

❐❐❐

स्मृति का समाज-दर्शन

[शास्त्रों को वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में देखने की प्रेरणा इस लेख में है। वस्तुत: स्मृतियों की युगानुरूप व्याख्या आवश्यक है— सम्पादक]

भारतीय परम्परा में व्यवस्था की दृष्टि से तोन विभाजन किए गए- विश्व व्यवस्था, समाज-व्यवस्था और व्यक्ति की व्यवस्था। विश्व की व्यवस्था का विचार श्रुति में हुआ, समाज की व्यवस्था का विचार स्मृति में हुआ और व्यक्ति की व्यवस्था का विचार दर्शनशास्त्र में हुआ। केन्द्र में यह बात रही कि इन तीनों प्रकार की व्यवस्थाओं में परस्पर समन्वय होना चाहिए, विरोध नहीं। उदाहरणत: यह कहा गया कि स्मृति को श्रुति विरुद्ध नहीं होना चाहिए। प्रकृति की व्यवस्था विश्व व्यवस्था का अङ्ग है। यदि समाज में किसी भी ऐसी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाता है, जो प्रकृति की व्यवस्था को भङ्ग करे तो यह स्मृति के द्वारा श्रुति के विरोध का उदाहरण बन जायेगा।

भारतीय संविधान हमारी वर्तमान स्मृति है

प्रथम तो हमें यह स्पष्ट होना चाहिए कि जो कार्य किसी समय स्मृतियाँ कर रही थीं वह कार्य आज हमारा संविधान कर रहा है। संविधान ही हमारी आधुनिक स्मृति है। किसी भी प्रकार की व्यवस्था के सम्बन्ध में हम अपने संविधान से ही नियन्त्रित होते हैं। हमारे संविधान में भो श्रुति और स्मृति की तरह दो भाग उपलब्ध होते हैं। संविधान का एक भाग उसका मौलिक ढाँचा है, जिसमें परिवर्तन नहीं किया जा

सकता। यह श्रुति के समान है। उदाहरणतः हम लोकसभा के पूर्ण बहुमत के द्वारा भी प्रजातान्त्रिक प्रणाली को समाप्त करके राजतन्त्र की स्थापना नहीं कर सकते, क्योंकि प्रजातन्त्र का सम्बन्ध हमारे संविधान के मौलिक ढाँचे से है।

श्रुति की अपौरुषेयताः स्मृति की श्रुत्यनुकूलता

परम्परा में श्रुति को अपौरुषेय कहा जाता है। विश्व का सञ्चालन जिन नियमों के अन्तर्गत हो रहा है वे नियम व्यक्तियों के बनाए हुए नहीं है। उदाहरणतः पृथ्वी सूर्य के चारों ओर किस गति से चलकर कितने समय में अपनी परिक्रमा पूरी कर लेगी इसका निर्धारण मनुष्यों द्वारा नहीं किया गया है। ईश्वरवादी कहेंगे कि यह निर्धारण ईश्वर द्वारा किया गया है, अनीश्वरवादी कहेंगे कि यह निर्धारण प्रकृति द्वारा किया गया है। दोनों ही स्थितियों में इसे अपौरुषेय कहना होगा। ईश्वरकृत अथवा प्रकृतिकृत नियम न हमने बनाये हैं न हम उन्हें बदल सकते हैं। यही श्रुति की शाश्वतता अथवा अपरिवर्तनीयता है। हम जो नियम समाज के लिए अथवा व्यक्ति के लिए बनाये उन नियमों का श्रुति के नियमों से तालमेल होना चाहिए। स्मृति को श्रुति के अनुकूल होना चाहिए– इसका यही अर्थ है उदाहरणतः पृथ्वी के अपनी धुरी के चारों ओर घूमने से दिन और रात बनते हैं। दिन में प्रकाश है जो कार्य करने के लिए अनुकूल है, रात्रि में अन्धेरा है जो आराम के लिए अनुकूल है। अतः यदि हम दिन में कार्य करें और रात्रि में विश्राम करें तो यह व्यवस्था प्राकृतिक व्यवस्था के अनुरूप होगी। पुराने शब्दों में दिन में काम और रात में आराम करने का आदेश देने वाली स्मृति श्रुति के अनुकूल होगी। गह्यसूत्र ने आदेश दिया– **दिवा मा स्वाप्सीः** दिन में मत सोओ। यह आदेश श्रुति के अनुकूल है, अतः उचित है। परीक्षण द्वारा यह जाना जा सकता है कि जो दिन में सोते

हैं और रात में जागते हैं उनका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य गड़बड़ा जाता है। अभिप्राय यह है कि हमें व्यक्तिगत और समष्टिगत नियम ऐसे बनाने चाहिए, जो प्राकृतिक व्यवस्था के अनुरूप हों। इसीलिए महाकवि कालिदास ने कहा– **श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।** इसी बात को वेद ने इस भाषा में कहा कि हम सूर्य और चन्द्र के समान कल्याण के मार्ग का अनुसरण करें– **स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।** ब्राह्मण ग्रन्थों ने भी इसी तथ्य का समर्थन किया– **यद्देवा अकुर्वंस्तद् करवाणि।**

भारतीय संविधान का मूल ढाँचा

भारतीय संविधान पर दृष्टिपात करें तो उसकी अवतरणिका में तीन मूल्यों का उल्लेख है – समानता, विश्वबन्धुत्व और स्वतन्त्रता। ये तीन मूल्य पूरे संविधान के मार्गदर्शक हैं। प्राचीन शब्दावली में कहें तो ये श्रुति के समान हैं। इन्हें बदला नहीं जा सकता। प्रायः ऐसा मान लिया गया है कि ये तीन मूल्य हमें फ्रांस की क्रान्ति से प्राप्त हुए। किन्तु ये मूल्य वस्तुतः शाश्वत हैं। अतः इनका उल्लेख मानव जाति के प्रथम ग्रन्थ वेद में ही उपलब्ध हो जाता है। जहाँ तक समानता का सम्बन्ध है, वेद ने स्पष्ट घोषणा की है कि हम सब जुड़वाँ भाई की भाँति हैं, हममें न कोई बड़ा है न कोई छोटा– **अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सम्भ्रातरः।** यह समानता के मूल्य का अत्यन्त स्पष्ट उद्घोष है। इसी प्रकार विश्वबन्धुत्व के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया है कि विश्व एक नीड की तरह है – **यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।** नीड की यह विशेषता होती है कि यदि उसका एक तिनका खींचा जाए तो पूरा नीड खिंचा चला आता है। वेद का कथन है कि हमारा बन्धुत्व इस प्रकार का है कि एक के प्रभावित होने पर पूरा विश्व प्रभावित होता है। विश्वबन्धुत्व का यही अर्थ है। तीसरा मूल्य स्वतन्त्रता का है। इस सम्बन्ध में वेद का कहना है कि पृथ्वी पर भिन्न–

भिन्न भाषाएँ बोलने वाले और नाना धर्मों वाले लोग रहते हैं - **जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणम्।** इन सबको पृथ्वी समान रूप से धारण करती हुई सबके लिए सुखदायी बने- **यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमिः अधराद्याश्च पश्चात् । स्योनास्ता मह्यं चरते।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे संविधान का जो मूलभूत ढाँचा है उसका मूल वेद में ही उपलब्ध होता है। इसलिए हम कह सकते हैं कि हमारा संविधान जो हमारी आज की स्मृति है, श्रुति के अनुकूल होने के कारण मान्य है।

वर्णव्यवस्था का मनोवैज्ञानिक आधार-

प्राचीन स्मृतियों में वर्णव्यवस्था पर विस्तार से विचार किया गया है। इस सारे विवरण में यह दिखाई देता है कि वर्णव्यवस्था के अन्तर्गत समानता और विश्व-बन्धुत्व के मूल्यों की अवहेलना हुई है। अतः इस विषय पर थोड़ा विस्तार से विचार करना आवश्यक है। प्रकृति में हमें तीन घटक दिखाई देते हैं -पदार्थ, क्रिया और ज्ञान। श्रुति ने इस आधार पर तीन गुणों का प्रतिपादन किया - **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्।** तमोगुण जड पदार्थ में प्रमुख रूप से है, रजोगुण क्रिया का सञ्चालन करता है और सत्वगुण ज्ञान का सर्जक है। यहाँ तक की व्यवस्था ब्रह्माण्ड की व्यवस्था का अङ्ग है। परम्परा ने इसी आधार पर समाज-व्यवस्था और व्यक्ति की व्यवस्था भी की। समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत यह व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था कहलाई और व्यक्ति के स्तर पर इस व्यवस्था ने आश्रम-व्यवस्था का रूप ले लिया। श्रुति में और दार्शनिक साहित्य मं वर्ण-व्यवस्था का सङ्केत मात्र हुआ। किन्तु स्मृति साहित्य में उस व्यवस्था का उपबृंहण हुआ।

ज्ञान और भक्ति में सबका समान अधिकार-

स्मृतियों की वर्ण-व्यवस्था को हम श्रुति और दर्शन के आधार पर समन्वित रूप में देखना चाहें तो यह स्पष्ट होता है कि सत्व, रजस्, तमस् का सिद्धान्त श्रुति में भी उपलब्ध है और दर्शन शास्त्र में भी उपलब्ध है। यही त्रिगुण का सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्था का भी आधार है, किन्तु साथ ही स्मृति के केन्द्र में क्योंकि समाज है इसलिए वर्णव्यवस्था में समाज की आवश्यकता को भी स्थान दिया गया है । कर्म, ज्ञान और भक्ति की त्रिपुटी की भाषा में बात करें तो ज्ञान का अधिकार सबको है। सभी को यह अधिकार है कि वे आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर सकें, राग द्वेष से बचें, सफलता-असफलता में समभाव रखें, धर्म-अधर्म के बीच विवेक करते हुए, धर्म का पालन करें और इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थों की सिद्धि करें। भगवान् की भक्ति करने का भी अधिकार सभी को समान रूप से है - **सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः।**

विविध कर्म एक दूसरे के परिपूरक -

किन्तु ज्ञान और भक्ति मात्र से समाज नहीं चलता। समाज के लिए कर्म भी चाहिए। समाज की आवश्यकता एक ही प्रकार के कर्म से पूरी नहीं हो सकती। शास्त्र का पठन-पाठन भी समाज में होना चाहिए, शस्त्र द्वारा राष्ट्र की रक्षा भी होनी चाहिए, व्यापार द्वारा सांसारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए आर्थिक सम्पन्नता भी होनी चाहिए और शारीरिक श्रम द्वारा उत्पादन भी होना चाहिए। सभी व्यक्तियों के लिए ये सभी कर्म सहज नहों होते। न दार्शनिक प्रवृत्ति के व्यक्ति के लिए युद्ध करना सहज है, न सैनिक के लिए दार्शनिक चर्चा करना सहज है। ऐसे में स्मृतियों ने यह व्यवस्था की कि प्रत्येक व्यक्ति को उसकी प्रवृति के अनुकूल कर्म करते हुए सामाजिक व्यवस्था में योगदान देना चाहिए। किन्तु ऐसी व्यवस्था के

साथ ही यह विचार भी पैदा हो गया कि ज्ञान के आदान-प्रदान का कार्य जितना ऊँचा है उतना ऊँचा शारीरिक श्रम का कार्य नहीं है। परिणाम यह हुआ कि वर्ण-व्यवस्था समाज में विषमता की जन्मदात्री बन गई और स्मृतियां पर एक गम्भीर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया।

श्रुति की सही व्याख्या-

जैसा हमने कहा समाज-व्यवस्था को श्रौत और दार्शनिक-व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। प्रथमत: ऋग्वेद के उस मन्त्र को लें, जिसमें विराट् पुरुष के मुख को ब्राह्मण और पाँव को शूद्र बताया गया है। प्राय: इसकी यह व्याख्या कर दी गई कि पाँव क्योंकि शरीर में सबसे नीचे हैं इसलिए समाज में शारीरिक श्रम करने वाला सबसे नीचे है। हम यह भूल गए कि सारा शरीर पाँव पर ही खड़ा है। उसी प्रकार सारे समाज का आधार शारीरिक श्रम है। शारीरिक श्रम करने वाले के बिना समाज की मूलभूत आवश्यकतायें रोटी, कपड़ा और मकान ही पूरी नहीं हो सकती तो उनके बिना ज्ञान की चर्चा का तो प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होगा? शारीरिक श्रम करने वाला अनाज पैदा करके हमारा पेट भरता है, कपड़ा बुनकर हमारा तन ढकता है और मकान बनाकर हमें सर्दी, गर्मी, बरसात से बचाता है। इस प्रकार शारीरिक श्रम करने वाला समाज की नींव है। शारीरिक श्रम करने वाला समाज का पाँव है- इसकी यह दुर्व्याख्या कर दी गइ कि शारीरिक श्रम करने वाला समाज में सबसे नीचे है। इस व्याख्या को सुधारना चाहिए। वृक्ष की जड़ सबसे नीचे होती है किन्तु वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। मकान की नींव भी सबसे नीचे होती है किन्तु वह सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है । जब हमने श्रमिक के महत्त्व को भुला दिया तो यह देश दरिद्र हो गया।

सात्विक कर्म ही श्रेष्ठ

जहाँ तक दर्शन शास्त्र का सम्बन्ध है, स्वरूपतः किसी कर्म को छोटा या बड़ा नहीं माना गया अपितु प्रत्येक कर्म सात्विक, राजसी और तामसिक हो सकता है, ऐसा शास्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है। फलासक्ति तथा अहङ्कार के बिना किया गया कर्म सात्विक है। वह कर्म अध्यापन है या सेवा इसका कोई महत्त्व नहीं। (गीता 18.9)-

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ।।

श्रद्धा, आहार, दान, यज्ञ, तप ये सभी प्रकार के होते हैं। आसक्ति रहित, रागद्वेष रहित और फल की आसक्ति के बिना किया गया कर्म सात्विक है, अहङ्कार पूर्वक भोगों की इच्छा से किया गया कर्म राजस है और अज्ञानपूर्वक किया गया अनैतिक कर्म तामस है -(गीता 18.23-25)-

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते।।
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्मं यत्तत्तामसमुच्यते।।

'जो कर्त्ता सङ्गरहित अहङ्कार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा कार्य के सिद्ध होने और न होने में हर्ष-शोकादि विकारों से रहित है वह सात्विक कहा जाता है । जो कर्त्ता आसक्ति से युक्त कर्मों के फल को चाहन वाला और लोभी है तथा दूसरों को कष्ट देने का स्वभाव वाला अशुद्धाचारी और हर्ष - शोक से लिप्त है- वह राजस

कहा गया है। जो कर्त्ता अयुक्त, शिक्षा से रहित, घमण्डी, धूर्त और दूसरों की जीविका का नाश करने वाला तथा शोक करने वाला आलसी और दीर्घसूत्री है- वह तामस कहा जाता है -(गीता 18.26-28)'

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते।।
रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः।।
अयुक्तः प्राकतः स्तब्ध शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते।।

इस प्रकार बुद्धि, धृति, सुख आदि सभी तीन प्रकार के हो जाते हैं। इस सारे प्रसङ्ग पर दृष्टिपात करें तो यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि कोई कर्म अपने-आप में छोटा या बड़ा नहीं है, कर्म का मापदण्ड यह है कि हमने किस प्रकार का भाव रखते हुए किस कामना से कर्म किया। वह कर्म ज्ञान का आदान-प्रदान भी हो सकता है और शारीरिक श्रम भी हो सकता है। इसी आधार पर गीता ने ब्राह्मण के स्वरूप का वर्णन करते हुए शम, दमादि नैतिक गुणों का वर्णन किया है न कि किसी कर्म विशेष का। इसी प्रकार क्षत्रिय के सम्बन्ध में शौर्य तेजादि गुणों का उल्लेख है -(गीता 18.42-43)

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।

दर्शनशास्त्र की इस अवधारणा के विरुद्ध यदि किसी कर्म विशेष को बड़ा या छोटा माना जाए तो उसे युक्तिसङ्गत नहीं कहा जा सकता ।

स्पष्ट है कि गीता में दिया गया विवरण वणव्यवस्था का आधार नैतिक तथा आध्यात्मिक गुण है न कि कर्म या आजीविका के साधन, जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है। उदाहरणतः ब्राह्मण के कर्म तथा आजीविका के साधन इस प्रकार दिए गए हैं–

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट् कर्माण्यग्रजन्मनः।।
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः।।

स्पष्ट है कि गीता में वर्णव्यवस्था का आधार कर्म और आजीविका के साधनों को न मानकर नैतिक गुणों को माना है। गीता मनु से परवर्ती है अतः अधनातन होन के कारण तो वह प्रमाण है ही किन्तु साथ ही स्वयं भगवान् की वाणी होने के कारण वह किसी भी अन्य शास्त्र की अपेक्षा अधिक बलवत्तर प्रमाण है।

गीता का वर्णव्यवस्था सम्बन्धी विवेचन

इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्मृतियों में और धर्मशास्त्रों में ऐसे विधान हैं जो समाज में ऊँच–नीच का भाव उत्पन्न करते हैं किन्तु साथ ही यह भी सच है कि गीता जैसे धर्मशास्त्र की उपर्युक्त व्याख्या से वे विधान मेल नहीं खाते। गीता के आधार पर तो हमें यह कहना ही होगा कि शास्त्र के अध्ययन जैसा कम भी यदि अहङ्कार पूर्वक और फलासक्ति से युक्त होकर किया जाता है तो वह सात्विक नहीं है जबकि सेवा का कर्म भी सात्विक हो जाता है यदि उसे अहङ्कार रहित होकर फलासक्ति के बिना किया जाए। गीता के आधार पर ये निर्णय बिना किसी खींचतान के लिया जा सकता है और इस आधार पर ये कहा जा सकता है कि व्यक्ति के मूल्याङ्कन का आधार यह नहीं है कि वह कौन सा कर्म करता है अपितु

यह है कि कर्म करते समय उसकी मानसिक स्थिति क्या है। इस स्थिति में समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म करते हुए भी व्यक्ति सात्विक बने रह सकते है और उनमें किसी को नीचा मानने का कोई आधार नहीं बनता।

कौन व्यक्ति किस कर्म का चयन करे इसका आधार यह है कि किस कर्म में व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति का अधिक अवसर मिलता है। वर्ण-व्यवस्था का यही आधार है- व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति का अवसर मिले और समाज की आवश्यकता की पूर्ति हो। इससे धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि हो जायेगी और व्यक्ति यदि कर्म करते हुए भी कर्तृत्वभाव से मुक्त रह सकेगा तो मोक्ष पुरु षार्थ की भी सिद्धि हो जाएगी। इस पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि में सबका समान अधिकार है, वर्ण-व्यवस्था तो केवल यह मार्ग सुझा रही है कि इन चारों पुरुषार्थो की सिद्धि के साथ-साथ समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति भी कैसे हो।

आज के समय में हम सब पुरुषार्थों को छोड़कर अर्थ-पुरुषार्थ पर ही अपनी दृष्टि केन्द्रित रखते हैं। इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि स्मृतियों ने ब्राह्मण के लिए सबसे कम परिग्रह रखने की व्यवस्था की है और साथ ही दण्ड व्यवस्था के अन्तर्गत ब्राह्मण के लिए सबसे अधिक कठोर दण्ड की व्यवस्था है।

हमने परम्परा के आधार पर वर्ण-व्यवस्था का तटस्थ भाव से विश्लेषण किया है। हमें यह स्वीकार करना होगा कि परम्परा में वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ऊँच-नीच की विषमता की भावना लम्बे समय तक चली किन्तु गीता जैसा शास्त्र उस भावना का समर्थन नहीं करता।

वर्णव्यवस्था पर श्री अरविन्द का मत

यह चर्चा अतीत की है। हमारी वर्तमान की स्मृति भारतीय संविधान है जिसमें विषमता के लिए कोई स्थान नहीं है और हमें उसी का

अनुसरण करना चाहिए। इस सम्बन्ध में श्री अरविन्द का यह मत है कि क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुण रहते हैं अत: प्रत्येक व्यक्ति में चारों ही वर्ण हैं। वैज्ञानिक उपकरणों के कारण आज शारीरिक श्रम का रूप भी बदल गया है। शारीरिक श्रम करने वाले को भी उन उपकरणों को उपयोग करने के लिए ज्ञान प्राप्त करना होगा। वह अशिक्षित नहीं रह सकता । दूसरी ओर इन वैज्ञानिक उपकरणों के कारण कोई भी व्यक्ति अपनी शारीरिक आवश्यकताएं भी स्वयं ही पूरी कर सकता है। उसे किसी प्रकार के दूसरे के सहयोग की आवश्यकता नहीं है। अत: यूँ तो सैद्धान्तिक रूप से विषमतामूलक समाज का समर्थन करना कभी भी उचित नहीं था किन्तु आज की बदली हुई परिस्थिति में तो समतामूलक समाज की स्थापना और भी अधिक सहज हो गई है। हमारे संविधान ने जिस समता का आदर्श हमारे सम्मुख रखा है वह आदर्श श्रीमद्भगवद्गीता की शिक्षा के सर्वथा अनुकूल है और यदि किसी अन्य शास्त्र में समता के आदर्श के विरुद्ध प्रतिपादन किया गया है तो उस शास्त्र को श्रीमद्भगवद्गीता के उपर्युक्त विवेचन के सम्मुख प्रमाण नहीं माना जा सकता।

❐❐❐

स्मृतियों की आत्मा अमर है

(मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में)

[मनुस्मृति पर कभी कभी आक्षेप किया जाता है। हम प्राचीन शास्त्रों से ग्रहण करते समय उनकी आत्मा को ग्रहण करें; उनका बाह्य कलेवर तो परिवर्तनशील है—सम्पादक]

भारत का एक अल्पश्रुत व्यक्ति भी जानता और मानता है कि शरीर क्षणभङ्गुर और नश्वर है, किन्तु आत्मा शाश्वत और अमर है। प्रत्येक विचारधारा का भी एक शरीर होता है और एक आत्मा । किसी विचारधारा की आत्मा ही अजर अमर हो सकती है, शरोर तो परिवर्तित होता रहता है। जिनकी दृष्टि शरीर पर है वे किसी भी प्राचीन विचारधारा को मृत एवं अप्रासङ्गिक मानते हैं, किन्तु जिनकी दृष्टि आत्मा पर है, उन्हें प्राचीन विचारधाराओं में बहुत कुछ प्रासङ्गिक एवं मूल्यवान् मिल जाता है।

स्मतियाँ प्राचीन विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनके शरीर में प्रासङ्गिकता ढूँढने पर निराशा ही हाथ लगेगी। किन्तु यदि उनकी आत्मा को देखा जाये तो पता लगेगा कि स्मृतियों का अनुशीलन आज भी हमारा मार्ग-दर्शन कर सकता है। शरीर काल से बंधा है; काल बदलता है तो शरीर भी बदल जाता है, किन्तु आत्मा कालातीत है, वह काल के साथ बदलती नहीं।

सभ्यता एवं संस्कृति-अभी हमने जिसे शरीर कहा है उसे आज की भाषा में सभ्यता कह सकते हैं और आत्मा को संस्कृति कह सकते हैं। सभ्यता का सम्बन्ध रोटी, कपड़े मकान से है; संस्कृति का सम्बन्ध सत्यं,

शिवं, सुन्दरम् से है। भोजन बनाने और खाने के तौर-तरीके देश और काल के साथ बदलते हैं, सत्य देश-काल के साथ बदलता नहीं। कपड़ों का फैशन देश-काल के अनुसार बदलता है, शिव की अवधारणा सार्वभौम और सार्वकालिक है। मकानों का वास्तु-शिल्प भी देश-कालानुसार बदलता है, किन्तु सुन्दर सदा सुन्दर ही रहता है। भोजन, कपड़ों और मकानों की शैली में जो जो विकास होता है, वह सभ्यता के विकास का इतिहास बन जाता है। बावन गज का घाघरा कभी प्रचलन में रहा होगा और उसे पहनने वाले सभ्य ही माने जाते थे, किन्तु आज वह इतिहास की वस्तु बन गया; वह म्यूजियम में देखने को मिल सकता है, पर व्यवहार में नहीं आता। यह सभ्यता की विकसनशीलता अथवा परिवर्तनशीलता का परिणाम है। किन्तु मैत्रीभाव की गरमाहट और प्रेम की स्निग्धता आज भी उतनी ही प्रासङ्गिक हैं जितनी वैदिककाल में तब रही होगी जब '**मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्**' अथवा '**सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्**' का घोष किया गया था। यह वैदिक विचारधारा की आत्मा है। इसे संस्कृति कहना चाहिये, जो पहनने-ओढ़ने के ढंग से भिन्न चीज है। पहनावा सभ्यता का अङ्ग है, संस्कृति का नहीं।

स्मृतियों में संस्कृति के तत्त्व भी हैं और अपने समय की सभ्यता का विवरण भी है। उस समय की सभ्यता में और आज की सभ्यता में अन्तर आ जाने के कारण यदि हम उस पुरानी सभ्यता को अपनाने का आग्रह करेंगे तो हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न हो जायेगी। किन्तु इसके साथ ही यह भी जान लेना आवश्यक है कि सभ्यता और संस्कृति एक-दूसरे को उतना ही प्रभावित करती हैं जितना शरीर और आत्मा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। एक पशु के शरीर में ऋषि की आत्मा अभिव्यक्त नहीं हो सकती; ऋषित्व की अभिव्यक्ति के लिये मानव शरीर चाहिये। इसीलिये मानव शरीर का भी कम महत्त्व नहीं है- **बड़े भाग मानुष तन पावा।** यदि हमें स्मृति की संस्कृति को अपनाना है तो स्मृतियों में

प्रतिपादित सभ्यता को भी बिल्कुल नकारा नहीं जा सकता, यद्यपि उसमें यथेष्ट परिवर्तन किया जा सकता है।

शरीर-आत्मा और सभ्यता-संस्कृति के इस द्वंद्व को स्मृति-श्रुति के युगल द्वारा भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। यदि कोई स्मृति श्रुतिविरुद्ध है तो वह मान्य नहीं है। यह बात कह तो दी जाती है, किन्तु कहीं ऐसा उदाहरण देखने में नहीं आता कि किसी स्मार्त विधान को इसलिये अमान्य करार दे दिया गया हो कि वह श्रुति-विरोधी है। वस्तुतः यह खाज का विषय है कि क्या स्मृति के कोई विधान श्रुति के विरोधी हैं और इसलिये अमान्य हैं। स्वामी दयानन्द ने अवश्य स्मृति के कुछ विधानों को वेद-विरुद्ध बताकर प्रक्षिप्त माना है।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में मनुस्मृति के आलोक में हम यह देखने का पयत्न करें कि स्मृतियों की आत्मा क्या है। उस आत्मा को आधार बनाकर आज पुरानी सभ्यता को नया रूप दिया जा सकता है, किन्तु उस आत्मा को भुलाकर यदि कोई सभ्यता खड़ी की जाती है तो वह सभ्यता बिना जड़ की बेल के समान हवा में झूलती रह जायगी।

धर्म की व्यापकता- मनुस्मृति का प्रारम्भ धर्म की जिज्ञासा से होता है- **धर्मान्नो वक्तुमर्हसि।**[१६१] कुल्लूकभट्ट ने यहीं यह प्रश्न उठा दिया कि धर्म की जिज्ञासा के उत्तर में '**ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा**[१६२]' इत्यादि के द्वारा काम का प्रतिपादन कहाँ तक स्मृतियों में उचित है। कुल्लूकभट्ट का समाधान है कि जहाँ कहीं भी नियमन का विधान है, वहाँ धर्म है। ऋतुकाल में ही तथा स्वदार से ही सम्बन्ध स्थापित करना उचित है, अन्यथा नहीं- यह विधान धर्म का ही अङ्ग बन जाता है।

---

१६१ मनुस्मृति, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, विक्रम सम्वत् 2057 (षष्ठ संस्करण), 1.2

१६२ तदेव, 3.45

'**ऋतामृताभ्यां जीवेत्**'[१६३] द्वारा अर्थोपार्जन न्यायपूर्वक ही करना चाहिये, अन्यायपूर्वक नहीं–यह विधान भी धर्म का ही अङ्ग बन जाता है।

मनुस्मृति के प्रारम्भ में सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया दी गयी है। प्रश्न उत्पन्न हुआ कि सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया का धर्म से क्या सम्बन्ध है। उत्तर है कि 'जन्माद्यस्य यतः' के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण ब्रह्म है। अतः सृष्टि की उत्पत्ति की प्रक्रिया ब्रह्मज्ञान का कारण बनती है। दूसरे, संसार में परिभ्रमण भी धर्म तथा अधर्म के कारण ही होता है। अतः संसार का स्वरूप जानकर व्यक्ति धर्म में प्रवृत्त होता है।

याज्ञवल्क्य ने तो योग द्वारा आत्मदर्शन को परमधर्म माना ह–

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।[१६४]

अतः कुल्लूकभट्ट का कहना है कि सृष्टिविद्या का वर्णन आत्मज्ञान रूप परमधर्म का साधक है–

धर्मे पृष्टे मनुर्ब्रह्म जगतः कारणं ब्रुवन्
आत्मज्ञानं परं धर्मं वित्तेति व्यक्तमुक्तवान्।[१६५]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म शब्द का बहुत व्यापक अर्थ है। जिसे आज Holistic approach कहा जाता है, वही धर्म है। धर्म केवल पारलौकिक स्वर्गादि विषयों का ही प्रतिपादन नहीं करता, अपितु अर्थ तथा काम जैसे इहलौकिक विषयों का भी नियमन करता है तथा वह मोक्ष के साधक आत्मज्ञान का भी उपाय है।

वस्तुतः धारण करने के कारण धर्म 'धर्म' कहलाता है। यह ध्यान करने पर मनुस्मृति की समस्त विषयानुक्रमणिका की सङ्गति बैठ जाती है। प्रथम अध्याय में जगत् के स्वरूप का वर्णन उस व्यवस्था की ओर इङ्गित

---

१६३ तदेव, 4.4

१६४ याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.8

१६५ मनुस्मृति 1.5 पर कुल्लूकभट्ट की टीका

करता है जो पूरे विश्व को धारण किये हुए है। तदनन्तर पष्ठ अध्याय पर्यन्त वर्णाश्रम व्यवस्था का विवेचन है जिस व्यवस्था पर व्यक्ति तथा समाज टिका है। पुनः एकादश अध्याय पर्यन्त राजधर्म के अन्तर्गत समाज में फैलने वाले उन अतिचारों के नियमन तथा प्रायश्चित्तों का विधान ह जो अतिचार सामाजिक व्यवस्था को विशृङ्खलित कर देते हैं। अन्तिम द्वादश अध्याय में त्रिकालोपयोगी आचार-संहिता का प्रतिपादन किया गया है।

धर्म की इतनी व्यापक व्याख्या इस आधार पर की गयी है कि धारण-शक्ति के कारण धर्म विश्व, व्यक्ति और समाज तीनों को टूटने से बचाता है। धर्म का यह स्वरूप उस रिलीजन से सर्वथा भिन्न है जिसे हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई आदि विशेषणों से विशेषित किया जाता है।

हिन्दुत्व एवं धर्म-निरपेक्षता- आज राजनीति के क्षेत्र में धर्म-निरपेक्ष तथा हिन्दुत्व शब्दों की बहुत चर्चा है। मनुस्मृति के परिप्रेक्ष्य में यदि धर्म का उपर्युक्त रूप पृष्ठभूमि में रहे तो शायद धर्मनिरपेक्षता और हिन्दुत्व के बीच कोई विरोध नहीं रह जायेगा। मनुस्मृति प्रतिपादित धर्म का स्वरूप धर्म-निरपेक्षता तथा हिन्दुत्व के बीच संवाद स्थाापित करने का सबल माध्यम बन सकता है। न्यायपूर्वक ही अर्थोपार्जन करना चाहिये इसमें किसी धर्मनिरपेक्षतावादी को भी क्या आपत्ति हो सकती है? सेक्स-सम्बन्ध विवाह-सम्बन्ध के अन्तर्गत ही होन चाहिये- यह भी सभी सभ्य समाजों का मान्य सिद्धान्त है।

धर्म की युगानुरूपता- 'धर्म' शब्द से हम जो सामान्यतः समझते हैं, उस विषय में भी मनु के विचार अत्यन्त युक्तिसङ्गत हैं। वे कहते हैं कि धर्म युगानुसार बदलता है। सत्युग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ तथा कलियुग में दान ही धर्म है-

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्य कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः।।
तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे।। [१६६]

---

१६६ तदेव, 1.85-86

यह मनु की दूरदृष्टि है कि उन्होने कलियुग में दान को धर्म बताया। अर्थप्रधान युग में दान ही प्रासङ्गिक बनता है, क्योंकि वह अर्थलोलुपता का संयमन करता है।

पुनर्व्याख्या की आवश्यकता-

कुछ ऐसे विषयों पर भी दृष्टिपात करना उचित होगा जिनकी युगानुरूप पुनर्व्याख्या करना अपेक्षित है। मनुस्मृति के कतिपय अशों को लेकर 'मनुवाद' नाम से कुछ आक्षेप किये जाते हैं। एक अंश है ब्राह्मणों की प्रशंसा[१६७] और शूद्रों की निन्दा का ।[१६८] जहाँ तक ब्राह्मणों की प्रशंसा का प्रश्न है- इसे किसी जाति-विशेष की प्रशंसा न मानकर ज्ञानी की प्रशंसा समझना चाहिये। ब्राह्मण के लिये जिस प्रकार के तप, त्याग और स्वाध्यायशील जीवनचर्या का विधान है उसका पालन करने वाला कोई भी व्यक्ति सहज ही श्रद्धा का पात्र बन जाता है, किन्तु कोई व्यक्ति किसी कुल विशेष में जन्म लेने मात्र से अपने में यदि उस श्रद्धा की पात्रता मान बैठे तो यह स्मृतिकारों को कदापि इष्ट नहीं है।

काठ के हाथी और चमड़े से मढे मृग के समान विद्याहीन ब्राह्मण को मनु केवल नामधारी ब्राह्मण बताते हुए[१६९] वेदज्ञान से रहित ब्राह्मण को निष्फल बताते हैं ।[१७०] मनु समाज में ब्राह्मण को सम्मान का पात्र अवश्य बताते हैं, किन्तु स्वयं ब्राह्मण को सावधान करते हुए कहते हैं कि उसे सम्मान को विष और अपमान को अमृत समझना चाहिये।[१७१] जो ब्राह्मण वेद न पढ़कर अन्य विद्यायें पढ़ता रहता है, वह इसी जीवन में सपरिवार

---

१६७ तदेव, 1.93-101

१६८ तदेव, 10.121-129

१६९ तदेव, 1.157

१७० तदेव, 1.158

१७१ तदेव, 1.162

शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है।[१७२] मनु की इस घोषणा के बाद आज के ब्राह्मणों के लिये यह विषय आत्मालोचन का विषय बन जाता है कि उनमें से कितने वस्तुत: अपने को ब्राह्मण कहने के अधिकारी हैं।

ब्राह्मण को अधिक से अधिक तीन वर्ष तक के अन्न की व्यवस्था करने की अनुमति है। किन्तु प्रशस्त मार्ग तो यह है कि वह एक घड़ेभर अनाज रखे अथवा उससे भी कम तीन दिन का अथवा केवल एक दिन का ही अनाज रखकर अश्वस्तनिक (कल के लिये भी सङ्ग्रह न करने वाला) बने। यह अपरिग्रह की चरमसीमा है।[१७३] ब्राह्मण को कुटिलता अथवा शठता से आजीविका का अर्जन नहीं करना चाहिये ।[१७४] अध्यापक के लिये मनु का यह वचन आज भी अत्यन्त प्रासङ्गिक है कि उसे स्वाध्याय के विरोधी सभी कार्य छोड़कर अध्यापन में ही अपने जीवन की सार्थकता माननी चाहिये।[१७५]

श्रुति का आदेश है कि ब्राह्मण राजनीति से दूर रहे- **ब्राह्मणोऽराजन्य:स्यात्**। इस श्रुति की व्याख्या मनु ने इस प्रकार की कि राजा दस हजार पशुओं को मारने वाले कसाई के समान है, अत: उससे दान लेना नरक का कारण है ।[१७६]

यद्यपि आज के समय में न्याय करते समय वर्णविचार करना अप्रासङ्गिक होगा, तथापि जो मनुवाद के नाम पर यह आरोप लगाते हैं कि मनु ने ब्राह्मणों को विशेष रियायतें दी हैं उन्हें मनु की इस व्यवस्था पर भी ध्यान देना चाहिए कि चोरी करने पर शूद्र को आठ गुना, वैश्य को सोलह गना और क्षत्रिय को बत्तीस गुना दण्ड देने की बात कहने के बाद मनु कहते हैं कि उसी अपराध पर ब्राह्मण को चौसठ गुना दण्ड देना चाहिये।

---

१७२ तदेव, 1.168

१७३ तदेव, 4.7

१७४ तदेव, 4.11

१७५ तदेव, 4.17

१७६ तदेव, 4.86

वे ब्राह्मण को विशेष अधिकार देने से पहले विशेष उत्तरदायित्व भी सौंप रहे हैं।[१७७]

जहाँ तक शूद्र का प्रश्न है, हमें ध्यान रखना होगा कि वर्णव्यवस्था के निर्माण के समय यन्त्रों का प्रचलन नहीं था। आज जो कार्य यन्त्रों से होते हैं, वे सभी कार्य तब शारीरिक श्रम द्वारा होते थे। श्रमिकों को इस समय उच्च शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु उनका श्रम समाज के लिये आवश्यक था। यही स्थिति शूद्रों के पिछड़ जाने का कारण बनी। फिर भी यह मानना होगा कि **'पद्भ्यां शूद्रोऽजायत'** की श्रुति की परम्परा ने गलत व्याख्या कर दी। पाँव शरीर में सबसे नीचे हैं। किन्तु पाँवों पर ही सारा शरीर खड़ा है। श्रमिकवर्ग के श्रम पर ही समाज की सम्पन्नता टिकी है। गुप्तयुग में जब भारत समृद्ध था तो वह श्रमिकों के श्रम का ही परिणाम था। मन्दसौर के मन्दिर का शिलालेख इस बात का प्रमाण है कि वह मन्दिर जुलाहों ने बनवाया था। ये जुलाहे रेशमी वस्त्र बनाते थे। ये वस्त्र उस समय के सभ्य संसार में जाते थे और उसके बदले सोना भारत को प्राप्त होता था । इसलिये भारत सोने की चिड़िया कहलाया।

आज यन्त्रों का युग है। आज अकुशल श्रमिक के स्थान पर कुशल श्रमिक (Skilled labour) चाहिये। हम आज के श्रमिक को जितना यन्त्र-कुशल बनायेंगे, देश उतनी तीव्रगति से विकास करेगा। इसके साथ ही श्रमिक की स्थिति भी सुधरेगी। आवश्यकता इस बात की है कि श्रमिक को अधुनातन उपकरण उपलब्ध कराये जायें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि शिक्षित वग शारीरिक श्रम को छोटा न समझे।

वर्ण-व्यवस्था के साथ आश्रम-व्यवस्था पर भी विचार करना होगा। ब्रह्मचर्याश्रम की आत्मा यह है कि व्यक्ति जीवन के प्रथम भाग में अन्य सब सुख-सुविधा छोड़कर विद्या का अर्जन करे। साथ ही जितना महत्त्व ज्ञानार्जन को दिया जाये उतना ही महत्त्व चरित्रनिर्माण को भी दिया

---

[१७७] तदेव, 337-338

जाये। भारत विकास की दिशा में तेजी से कदम बढ़ा रहा है। हम परमाणु-शास्त्र सम्पन्न राष्ट्र हो गये हैं। डालर जैसी विदेशी-मुद्रा का भण्डार भी तेजी से बढ़ा है। किन्तु इसकी कोई आशा दिखायी नहीं देती कि भ्रष्टाचार में कमी आ रही हो; भ्रष्टाचार तो शायद बढ़ ही रहा है। ऐसे में मनु की शिक्षा-प्रणाली से यह तत्त्व लेना होगा कि शिक्षार्थी विलासिता की अपेक्षा तपस्यामय जीवन के महत्त्व को सीखे। साथ ही राष्ट्र को भी ज्ञान के महत्त्व को समझना होगा। विद्या केवल अर्थकारी ही न हो, अपितु मनुष्य को स्वतन्त्रता भी प्रदान करे। विलासिता का दास सदा परतन्त्र ही रहता है। ज्ञान ही उस आन्तरिक सुख की अनुभूति करा सकता है जिसके सामने भौतिक सुख-साधन फीके पड़ जाते हैं।

गृहस्थ का स्वरूप-

मनुस्मृति का धर्म गृहस्थ-मूलक है।[१७८] गृहस्थ-मूलक होने के कारण यह कर्म-मूलक भी है। कर्म कामना के बिना नहीं होता। मनु ने कामना के संयमन का उपदेश दिया, उन्मूलन का नहीं।[१७९] वे कहते हैं कि ज्ञानार्जन की तथा शास्त्रोक्त कर्म करने की कामना करनी चाहिये।[१८०] यह दृष्टि समाज-धर्म का आधार है। वस्तुतः प्रसिद्ध दर्शनशास्त्र व्यक्तिगत मोक्षधर्म का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु प्रवृत्ति-मूलक समाज-धर्म का प्रतिपादन स्मृतियों की विशेषता है। सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के साथ स्मृतियों के विधानों में भले ही परिवर्तन अपेक्षित हों, किन्तु समाज-दर्शन के मूल तत्त्व नहीं बदलते हैं।

मनु कहते हैं कि जिस परिवार में पत्नी से पति तथा पति से पत्नी सन्तुष्ट है, उस कुल में निश्चिय ही सदा कल्याण होता है।[१८१] वे आगे

---

१७८ तदेव, 3.77-78

१७९ तदेव, 2.4

१८० तदेव, 2.2

१८१ तदेव, 3.60

कहते हैं कि जहाँ स्त्री प्रसन्न है, उस परिवार में सभी कुछ अच्छा लगता है, जहाँ स्त्री प्रसन्न नहीं है, उस परिवार में कुछ भी अच्छा नहीं लगता।[१८२] आज भी तीन ऋणों के चुकाने की बात पूर्णतः प्रासङ्गिक है। वही स्थिति पञ्चमहायज्ञ की है।[१८३] गृहस्थ के पास अतिथि के लिये आसन, स्थान, जल तथा मधुर वचन तो सदा रहने ही चाहिये।[१८४] वह कभी केवल अपने लिये भोजन न बनाये, सबको खिलाकर ही स्वयं खाये।[१८५] परम्परागत व्यक्ति आहार-शुद्धि में छुआछूत का तो बहुत विचार करते रहे हैं[१८६], किन्तु यह विचार गौण हो गया कि आजीविका का उपार्जन ईमानदारी से करना चाहिये। इसी प्रकार शौचाशौच विचार के अन्तर्गत हमने शारीरिक शुद्धि को गौण कर दिया। महात्मा गाँधी ने कहा था कि ईश्वर-भक्ति के अनन्तर दूसरे स्थान पर स्वच्छता आती है। किसी विकसित देश में जाने पर जो पहला प्रभाव मन पर पड़ता है वह वहाँ की स्वच्छता का है। शौचाशौच विचार में से स्वच्छता का महत्त्व आज हमारे लिये अत्यन्त प्रासङ्गिक है। हमारे देश में अनेक रोगों का कारण चारों तरफ फैली गन्दगी है।

वृद्धावस्था की समस्या आज बहुत विकट हो गयी है, क्योंकि एकल परिवार की प्रथा बढ़ रही है। युगानुसार वानप्रस्थ की संस्था को अपनाया जा सकता है। वानप्रस्थ का अर्थ 'वन में जाना' करना आज उचित नहीं, किन्तु सेवा-निवृत्त व्यक्ति पारस्परिक सहयोग से समाजोपयोगी जीवन-प्रणाली का विकास कर सकते हैं। समझना यह

---

१८२ तदेव, 3.62

१८३ तदेव, 3.70

१८४ तदेव, 3.101

१८५ तदेव, 3.118

१८६ तदेव, 4.4

जरूरी है कि भोग ही जीवन का एक मात्र उदेश्य नहीं हो सकता, त्याग का भी अपना आनन्द है। वस्तुतः सरकार अपराधों की रोकथाम के लिए एक सीमा तक प्रयत्न कर सकती है, किन्तु संस्कारों के निर्माण का कार्य वानप्रस्थ-संन्यासी ही कर सकते हैं।

राजधर्म-

मनु ने एक राज्य-प्रणाली तथा न्याय -प्रणाली का विस्तार से प्रतिपादन किया है। आज प्रजातन्त्र है तथा न्याय-प्रणाली भी वर्णभेद पर आश्रित नहीं है, किन्तु मनु के प्रतिपादन का मूल सूत्र आज भी उपयोगी है। सरकार का काम जनता के हितों की रक्षा करना है। शासक को राज्य को स्वार्थ-पूर्ति का साधन कदापि नहीं बनाना चाहिये। राज्य को बिना भेद-भाव के दण्डनीय को दण्डित तथा पुरस्करणीय को पुरस्कृत करना चाहिये। धर्मयुद्ध के अन्तर्गत मनु के विधान यू.एन.ओ. क नियमों के बहुत निकट पड़ते हैं, जिनके अन्तर्गत निरपराध तथा निर्बल पर शस्त्र चलाना निषिद्ध है।[१८७] भ्रष्टाचार के विरुद्ध मनु का कथन है कि घूसखोर का सर्वस्व छीन कर उसे राज्य से बहिष्कृत कर देना चाहिये।[१८८]

न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत मनु अपराधो के प्रति कठोर दृष्टि रखते हैं। उनका मत है कि न्याय नितान्त रूप से सत्य पर आधृत होना चाहिये। किन्तु एक स्थान पर वे असत्य की भी अनुमति देते हैं।[१८९] यदि साक्षी के सत्य बोलने पर किसी को फँासी लगती हो तो ऐसे स्थान पर असत्य बोल देना चाहिय। आज फाँसी की सजा अनेक देशों में समाप्त कर दी गयी है। स्पष्ट है कि मनु भी अपने मन में फाँसी देने को उचित नहीं मानते थे,

---

१८७ तदेव, 7.91-94

१८८ तदेव, 7.124

१८९ तदेव, 8.104

अन्यथा वे किसी को फाँसी से बचाने के लिये झूठी गवाही देने का समर्थन न करते ।

सार्वभौम नैतिकता-

पूरी स्मृति में देशकालानुसार व्यवस्था दे देने के बाद मनु को लगा कि अन्त में ऐसी व्यवस्था भी दे देनी चाहिये जो सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो। अत: अन्तिम द्वादश अध्याय में वर्णव्यवस्था के स्थान पर सत्त्व, रजस् और तमस् के आधार पर व्यवस्था करके वे एक सार्वभौम नैतिकता का प्रतिपादन भी कर देते हैं। इस अध्याय की पूरी व्यवस्था आज भी पूर्णत: प्रासङ्गिक है और इस व्यवस्था को सार्वदेशिक भी कहा जा सकता है, जो वहाँ भी लागू हो सकती है जहाँ वर्णव्यवस्था है ही नहीं।

उपसंहार-

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता ह कि -

(1). मनुस्मृति में जो अंश उस समय की परिस्थिति के आधार पर निर्मित हुए, उन अंशों को वर्तमान समय के अनुरूप ढाल कर ही अपनाया जा सकता है, किन्तु जो अंश सार्वकालिक हैं, वे आज भी प्रासङ्गिक हैं। यह सार्वकालिक अंश ही मनुस्मृति को आत्मा है।

(2). मनुस्मृति एक ऐसा ग्रन्थ है जो धर्म की ऐसी व्यापक व्याख्या करता है कि उसमें अर्थ, काम तथा मोक्ष का भी समावेश हो जाता है। इस व्यापकता के कारण मनु-प्रतिपादित धर्म में व्यक्ति, परिवार तथा समाज तीनों समाविष्ट हो जाते हैं।

(3). मनु स्वयं धर्म के स्वरूप को परिवर्तनशील मानते हैं। जो धर्म की इस परिवर्तनशीलता को विस्मृत करके मक्षिकास्थाने

मक्षिकापातः की दृष्टि अपनाते हैं, उन पर मनुवादी होने का आरोप लगता है। स्वयं मनु मनुवादी नहीं हैं।

(4). मनु क अनुसार ज्ञान का स्थान सर्वोपरि है, जो ब्राह्मण की प्रशंसा के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। किन्तु मनु ज्ञानी के लिये नैतिकता के अत्यन्त कठोर मानदण्ड भी स्थिर करते हैं।

(5). मनु का वर्णन राजतन्त्रात्मक है। आज प्रजातन्त्र है, तथापि शासक के जो कर्त्तव्य मनु ने बताये हैं वे प्रजातान्त्रिक प्रणाली में भी शासकों पर लागू होते हैं।

(6). मनु ने उपसंहार में सत्त्व, रजस् तथा तमस् के आधार पर अपनी व्यवस्था को एक सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक रूप स्वयं भी अन्त में दे दिया है जो आज भी पूर्णतः प्रासङ्गिक है।

❐❐❐